'कल्पना' के विषय में प्रान्तीय सरकारों की सम्मतियाँ

(1) GOVT. OF MADRAS

To

The Manager,
Kalpana Karyalaya,
Begum Bazar, Hyderabad (Deecan).

Sir,

The journal is found suitable for use in colleges and public Libraries. Copies of the orders passed in regard to the Government Colleges and public libraries are being communicated to you seperately. As regards private colleges you may contact the institutions direct in the matter.

Yours faithfully
Sd.
for DIRECTOR OF PUBLIC INSTRUCTION.

Dated
1 – 12 – 50.

(2) GOVT. OF RAJASTHAN

'Kalpana' a Hindi bi-monthly magazine published, from 831, Begum Bazar, Hyderabad (Dn) is approved for Government Libraries and reading rooms of all Schools and Colleges in Rajasthan.

Dated
6 – 8 – 50.

Vishnu Dutt
Education Secretary.

(3) GOVT. OF MADHYA PRADESH

Office of the Superintendent Buniyadi Shikshan
Vidyalaya, Seoni.

Order No. 72 — Dated Seoni the 15/16 Jan. 51

In accordance with the power delegated to me by the Director of public Instructions, Madhya Pradesh, Nagpur by his memo No. 1010/A/VI dated the 9th March 1949 for sanction of prize and Library Books, Kalpana is selected for inclusion in the list of periodicals for use as prize and library books in schools mentioned against their names:—

Sd/-A. K. Misra
Superintendent
Buniyadi Shikshan Vidyalaya, Seoni.

साहित्यिक तथा सांस्कृतिक द्वैमासिक पत्रिका

अप्रैल, १९५१

८३१, बेगमबाजार, हैदराबाद

वार्षिक १२)
एक प्रति २)

इस अंक में

१. संपादकीय १
२. हिन्दी-शब्द-विषयक प्रश्न-माला ... ... सिद्धेश्वर वर्मा-विनयमोहन शर्मा ५
३. ललितकला-शब्दावली ... . प्रभाकर माचवे ... ६
४. गीत (कविता) ... ... महादेवी वर्मा ... ७
५. भारतीय मुद्राओं का महत्त्वपूर्ण इतिहास ... वासुदेवशरण अग्रवाल ... ९
६. आधुनिक साहित्य और मनोविकृति ... . प्रभाकर माचवे ... २०
७. ग्राम्या ... ... शान्तिप्रिय द्विवेदी ... ३२
८. सुहावनी रात (कहानी) ... ... डॉस्टॉयूवस्की ... ४४
९. भारत की प्राथमिक संस्कृतियाँ ... श्यामाचरण दुबे ... ६५
१०. भारतीय साहित्य में दर्शन का आरम्भ ... जगदीशचन्द्र जैन ... ७६
११. वह संवेदन-शील (कविता) ... ... भवानीप्रसाद मिश्र ... ८६
१२. असितकुमार हालदार ... ... कृष्ण चैतन्य ... ८७
१३. सूरदास (रेडियो रूपक) ... ... विष्णु प्रभाकर ... ९०
१४. महाराष्ट्र संतों की हिन्दी वाणी .... विनयमोहन शर्मा ... १०३
१५. आरम्भ, उत्कर्ष और निष्पत्ति (कहानी) ... सत्येन्द्र शरत् १०८
१६. पूँजीवाद का विकास ... ... रामनारायण यादवेन्दु ... ११९
१७. दक्षिण के गीत १२९
१८. पुस्तक-परिचय १३४
मुखपृष्ट—चित्र ... ... जगदीश मित्तल

र्ष २ } हैदराबाद दक्षिण, अप्रैल, १९५१ { अंक

सम्पादकीय—

हिन्दी की तात्कालिक आवश्यकताएँ (१)

आज हिन्दी भारत की राष्ट्र-भाषा है, यह देख कर हिन्दी-भाषियों को जितना हर्ष होता है, उतना ही विषाद हिन्दी के विचारशील साहित्यिकों और लेखकों को यह देख कर होता है कि इतने विशाल देश की राष्ट्र-भाषा के अनुरूप संपन्नता का हिन्दी में शोचनीय अभाव है। साहित्य, कला, विज्ञान, राजनीति, दर्शन, इतिहास, व्याकरण, कोष— कोई विषय ऐसा नहीं है जिस पर उत्कृष्ट कोटि के, संसार की अन्य प्रमुख भाषाओं के ग्रन्थों से टक्कर लेने वाले, मौलिक ग्रन्थ हिन्दी में उपलब्ध हों। ले-दे कर जो कुछ है वह संस्कृत अथवा अंग्रेजी से लिया हुआ है— कुछ अनूदित, कुछ संगृहीत और कुछ रूपान्तरित। अपना निज का जो कुछ है, उसमें से बहुत कम 'उत्कृष्ट' कहा जा सकता है। हिन्दी की इस हीनता का प्रधान कारण सम्भवतः यह है कि विदेशी शासन के दिनों में वह कभी उच्च शिक्षा का माध्यम नहीं रही : विभिन्न विषयों के जो विद्वान् अथवा विशेषज्ञ हमारे देश में हुए, उन्होंने अंग्रेजी में ही शिक्षा पायी थी, और इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा वह भी अंग्रेजी में ही लिखा। इनमें से अधिकांश तो हिन्दी में लिखने की क्षमता ही नहीं रखते थे, और जो रखते भी थे, वे क्यों, किसके लिए, लिखते ? गम्भीर विषयों की हिन्दी-पुस्तकों को पढ़ने वाले इस देश में थे ही कितने ? और विदेशी शासक हिन्दी को प्रोत्साहन देने ही क्यों लगे ? इन परिस्थितियों का फल यह हुआ कि हिन्दी अर्ध-विकसित ही रह गयी— न उसकी शब्दावली संपन्न हो पायी और न उसकी गठन में प्रौढता और परिपक्वता

आ पायी। आज दशा यह है कि स्कूलों के लिए भी राष्ट्र-भाषा में पाठ्य-पुस्तकें लिखना दुष्कर है: अंग्रेजी के सामान्य शब्दों के भी पर्याय बने-बनाये नहीं मिलते—कभी संस्कृत-कोषों को उलटना पड़ता है, और कभी अंग्रेजी शब्दों को 'अन्तर्राष्ट्रीय' मान कर ज्यों का त्यों रख लेना पड़ता है। दूसरी ओर अभी हिन्दी का स्वरूप, उसका व्याकरण आदि, भी स्थिर नहीं हो पाया है: दर्जनों शब्द, मुहावरे आदि ऐसे हैं, जिनके रूपों में अनेकविधता चल रही है—कोई कुछ निश्चय नहीं कर पाता। (इस संबन्ध में "कल्पना" में कई 'सम्पादकीय' लिखे जा चुके हैं)। इस परिस्थिति में आज कोई विद्वान् किसी विषय पर 'आधुनिक' उत्कृष्ट कोटि का हिन्दी-ग्रन्थ लिखना भी चाहे तो कैसे लिखे? उसकी विचार-सामग्री पहले अंग्रेजी में ही तैयार होती है—इसी भाषा में उसने शिक्षा पायी है—, और तब वह इस सामग्री को राष्ट्र-भाषा में रूपान्तरित करने बैठता है। किन्तु उसे पग-पग पर उपयुक्त शब्द खोजने के लिए रुकना पड़ता है, और प्राय: ऐसे शब्द नहीं ही मिलते जो उसके अंग्रेजी में निबद्ध विचारों को सन्तोषप्रद रूप से व्यक्त कर सकते हों। मान लीजिए आप दर्शन-विषय पर एक ग्रन्थ लिख रहे हैं, और प्रारम्भिक वक्तव्य में यह कहना चाहते हैं:—In interpreting the doctrines of particular systems, I have tried to keep in close touch with the documents, give wherever possible a preliminary survey of the conditions that brought them into being, and estimate their indebtedness to the past as well as their contribution to the progress of thought. (राधाकृष्णन्, इंडियन फ़िलॉसफ़ी, भाग १, भूमिका पृ० ९)। अब आप इस अंग्रेजी में विचारे हुए वाक्य को हिन्दी में रखने का प्रयत्न करते हैं—विचारेंगे आप अंग्रेजी में ही, क्योंकि आपने शिक्षा भी अंग्रेजी में पायी है और बाद में अध्ययन भी अधिकांश में अंग्रेजी ग्रन्थों की सहायता से किया है (हिन्दी में ग्रन्थ हैं ही कहाँ?)—आप शुरू करते हैं—"विशेष (Particular)........... — अब systems के लिए क्या शब्द रखूँ? 'सम्प्रदाय', 'वाद', 'दर्शन', 'सरणि', 'पद्धति'?" किसी शब्द से सन्तोष नहीं होता। ख़ैर। आगे चलते हैं। doctrines—'तत्त्व', 'मत', 'वाद', 'सिद्धान्त'? interpreting—'व्याख्या करना', 'स्पष्टीकरण', 'समझाना', 'अर्थ बताना', 'विवरण', 'भाव-प्रकाशन', 'निरूपण'? सोचते जाइए, कोई शब्द 'फ़िट' नहीं बैठता। खींच-खाँच कर शायद यों वाक्यांश बनाएँगे—"विशेष सम्प्रदायों (दर्शनों) के तत्त्वों का निरूपण करने में मैंने—"। आगे है documents शब्द, जिसके पर्याय कोषों में मिलेंगे 'पत्र', 'लेख', 'लेख्य', 'प्रलेख'।

इनमें से यहाँ कोई काम नहीं देता। शायद 'मूल ग्रन्थ' से काम चल जाए। Keep in close touch — 'निकट सम्पर्क में रहना', 'सामने रखना', 'ध्यान में रखना' ? preliminary— 'प्रारम्भिक', 'प्राथमिक', 'प्रास्ताविक' ? survey— 'निरीक्षण', 'परिमापन', 'पर्यालोकन' ? कुछ जमता नहीं। आगे estimate, indebtedness, contribution के लिए भी उपयुक्त शब्द कठिनता से ही मिलेंगे। फिर भी आप अपनी बात स्पष्ट नहीं कर पाएँगे। आप अपनी ओर से स्पष्ट कर भी दें तो पाठक आपकी बात पूरी-पूरी समझ नहीं पाएँगे— सिवाय उनके जो स्वयं अंग्रेजी जानते हों और, आपने अमुक हिन्दी शब्द अमुक अंग्रेजी शब्द के स्थान पर रखा है, इसका अनुमान लगा सकते हों।

और यही दशा अन्य किसी भी विषय पर आधुनिक ढंग का ग्रन्थ लिखने वाले लेखक की होगी। हमारे इस कथन में अत्युक्ति नहीं है। किसी विचार-शील, और 'ईमानदार', लेखक से पूछ देखिए। हो सकता है कि कतिपय 'प्रतिभाशाली' लेखकों को उपयुक्त शब्द ढूँढ लेने— अथवा बना लेने—में देर न लगती हो। किन्तु 'प्रतिभाशाली' लेखकों में से भी एक एक शब्द को उपयुक्त मान सकता है और दूसरा किसी अन्य शब्द को। लेखकों की समस्या अन्त में पाठकों के सिर पड़ेगी ! और बेचारे 'सामान्य' लेखकों को तो उपयुक्त शब्दों के अनुसन्धान में उलझना पड़ेगा ही।

सारांश यह कि राष्ट्र की आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हिन्दी अपने वर्तमान स्वरूप मे किसी प्रकार नहीं कर सकती —पारिभाषिक शब्दों को अंग्रेजी से ज्यों का त्यों ले लिया जाए, तब भी नहीं। इस दशा में हिन्दी की सबसे पहली तात्कालिक आवश्यता है एक सर्वांग-पूर्ण तथा प्रामाणिक अंग्रेजी-हिन्दी कोष। 'भारतीयता' के भक्त मानें या न मानें, तथ्य यह है कि आज हमारा समस्त बौद्धिक जीवन अंग्रेजी से ओत-प्रोत है; नये युग के अनुरूप (और उसके लिए आवश्यक) जो कुछ हमारे जीवन में आया है, सब अंग्रेजी के ही द्वारा आया है (चाहे दशा-विशेष में अंग्रेजों के द्वारा न आया हो)। और, जैसा ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, यह भी तथ्य है कि जहाँ हमारा बौद्धिक विकास (अंग्रेजी की कृपा से) अन्य देशों के लगभग साथ-साथ होता रहा है, वहाँ हमारी भाषा बहुत पीछे छूट गयी है। अब उसे भी अनुरूप विकास देने के लिए हमें अंग्रेजी का ही सहारा लेना पड़ेगा। जब तक हम अंग्रेजी के प्रत्येक शब्द का उचित हिन्दी पर्याय ढूँढ कर स्थिर नहीं कर लेंगे, तब तक हमारी राष्ट्र-भाषा राष्ट्र की आवश्यकता-पूर्ति के लिए अशक्त ही रहेगी। एक प्रामाणिक अंग्रेजी-हिन्दी कोष के बिना न तो उत्कृष्ट कोटि के मौलिक ग्रन्थ हिन्दी में लिखे जा सकते हैं और

न अन्य भाषाओं के उत्तमोत्तम ग्रन्थों के अच्छे अनुवाद, रूपान्तर अथवा 'संग्रह' ही तैयार किये जा सकते है। रेडियो और हिन्दी समाचार-पत्रों का तथा केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के विभिन्न विभागों का नित्यप्रति का काम भी तभी ठीक चल सकेगा जब अंग्रेजी के सहारे हिन्दी अपना शब्द-भंडार सम्पन्न बना ले। यह काम जनता का नहीं है। जनता को जिन शब्दों की आवश्यकता होती है, उन्हें वह अविलम्ब बना लेती है। फलत: जनता के बनाये हुए सैकड़ों विदेशी शब्द अनूदित, रूपान्तरित अथवा विकृत हो कर हिन्दी में समाविष्ट हो चुके हैं। किन्तु बौद्धिक जीवन के लिए अपेक्षित शब्दावली जनता नहीं बनाएगी—उसे आवश्यकता ही नहीं है। इस शब्दावली का निर्माण विद्वानों को करना होगा।

इस दिशा में कुछ काम पहले हुआ है, कुछ अभी हाल में, कुछ अब हो रहा है। किन्तु जैसा सर्वांग-पूर्ण और प्रामाणिक अंग्रेजी-हिन्दी कोष अपेक्षित है, वैसा न तो बना ही है, और न उसके बनने की कोई आशा ही दिखाई देती है। पुराने अंग्रेजी-हिन्दी (या-उर्दू, या-हिन्दुस्तानी) कोषों में फ़ैलन, गिलक्रिस्ट, शेक्सपियर आदि के नाम लिये जा सकते हैं; नयों में रामनारायण लाल, भार्गव, आक्सफ़ोर्ड आदि के। सुखसम्पत्तिराय भण्डारी का अनेक भागों में प्रकाशित अंग्रेजी-हिन्दी कोष तथा मौलाना अब्दुल हक़ का अंग्रेजी-उर्दू कोष भी उल्लेखनीय हैं। डा. रघुवीर के शासन - तथा विज्ञान-सम्बन्धी कोष और राहुल सांकृत्यायन, विद्यानिवास मिश्र तथा प्रभाकर माचवे का शासन-शब्दकोष अभी नये-नये प्रकाशित हुए हैं। किन्तु ये सभी अधूरे, एकांगी, त्रुटि-पूर्ण अथवा पुराने हैं। हाँ, अपेक्षित कोष की तैयारी में ये सहायक अवश्य हो सकते हैं। डा. रघुवीर और डा. सिद्धेश्वर वर्मा एक "आंगल-संस्कृत-महाकोष" तैयार कर रहे हैं। इस कोष के सर्वांग-पूर्ण होने की आशा है और यह हिन्दी के लिए बहुत दूर तक सहायक और मार्ग-दर्शक का काम कर सकेगा। फिर भी अंग्रेजी-हिन्दी कोष की अपेक्षा रहेगी ही। प्रामाणिक तथा सर्वांग-पूर्ण कोष प्रस्तुत करने का काम एक व्यक्ति के वश का नहीं: न एक व्यक्ति ऐसा कोष तैयार कर सकता है, न प्रकाशित करा सकता है। कोई संस्था, अथवा प्रान्तीय सरकार—अथवा केन्द्रीय सरकार—इस काम को हाथ में ले और सब विशेषज्ञों का सहयोग प्राप्त करे, तभी यह योजना सफल हो सकती है। किन्तु हमें यहाँ यह नहीं बताना है कि हिन्दी की इस 'तात्कालिक आवश्यकता' की पूर्ति कौन करे और किस प्रकार करे। यह आवश्यकता 'तात्कालिक' है, इतना ही हमें निर्दिष्ट करना है।

अगले अङ्क में हम हिन्दी की अन्य 'तात्कालिक' आवश्यकताओं के विषय में अपने विचार प्रस्तुत करेंगे।

हिन्दी-शब्द-विषयक प्रश्न-माला (५)

—सिद्धेश्वर वर्मा तथा विनयमोहन शर्मा

१. हिन्दी शब्द **डौंडी**, जिसका अर्थ 'ढिंढोरा पीटने की ढोलक' अथवा 'ढिंढोरा' (लाक्षणिक अर्थ) समझा जाता है, कहाँ से आया है? "हिन्दी शब्द-सागर" में **डौंडी** को संस्कृत **डिंडिम** से उद्भूत बताया गया है। **डौंडी** से सम्बन्धित मराठी शब्द **दवण्डी** है, जिसका अर्थ मराठी कोषों में भी 'ढिंढोरा पीटने वाले की ढोलक' दिया गया है, और लाक्षणिक अर्थ 'ढिंढोरा'। और इसी प्रकार कुलकर्णी-कृत "मराठी व्युत्पत्ति-कोष" और दाते-कर्वे-कृत "मराठी शब्दकोष" में **दवण्डी** शब्द भी संस्कृत **डिंडिम** से विकसित माना गया है। परन्तु हिन्दी **डौंडी** में औकार और मराठी **दवण्डी** में वकार इस व्युत्पत्ति के प्रबल बाधक हैं। क्या इससे अधिक स्वीकार्य कोई अन्य मूल-शब्द कल्पित किया जा सकता है? क्या यह संभव नहीं कि यह शब्द संस्कृत *दम्-दम् (ढोल की ध्वनि का अनुकरण) से आया हो? *दम् के मकार का मराठी शब्द में वकार और हिन्दी शब्द में पूर्व अकार से मिल कर औकार हो जाना कोई अचम्भे की बात नहीं है। परन्तु अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या संस्कृत में इस *दम् के कोई अवशेष विद्यमान हैं। पहले प्राकृत ग्रन्थों को लीजिए। "अभिधान राजेन्द्र" आदि ग्रन्थों में प्राकृत धातु दमदमाय दिया गया है, जिसका अर्थ 'आडम्बर करना' बताया गया है। यह अर्थ भी शब्दानुकरण-मूलक प्रतीत होता है। फिर "संस्कृत-शब्द-कल्पद्रुम" में संस्कृत शब्द **दुन्दम** 'ढोल' के अर्थ में दिया गया है, जिसका सदृश शब्द **दुन्दुमायितम्** ढोल की ध्वनि के अर्थ में (दुन्दुमेर्दुन्दुमायितम्) भवभूति-कृत "उत्तररामचरित" में पाया जाता है। इसी के सदृश संस्कृत में डम् धातु 'ढोल की ध्वनि उत्पन्न करना'—इस अर्थ में "प्रबोधचन्द्रोदय" संस्कृत नाटक में प्रयुक्त की गयी है (देखिए संस्कृत-जर्मन महाकोष)। पंजाब में आजकल एक तीर्थ विद्यमान है जिसे सिख लोग 'दमदमा साहिब' कहते हैं, इसलिए कि इसमें बड़े-बड़े ढोल रखे गये हैं। क्या उपर्युक्त हेतुओं से **डौंडी** को संस्कृत डमरु, **दुन्दम** आदि से जोड़ा जा सकता है?

२. "कल्पना" के दिसम्बर १९५० के अंक में **पश्चिम** शब्द का वर्ण-विन्यास दो स्थानों में (पृष्ठ १ पंक्ति १०; पृष्ठ ३, कण्डिका २, पंक्ति २) **पश्छिम** लिखा गया है, इस अपूर्व वर्ण-विन्यास का प्रयोजन क्या है?

[**पश्चिम** के स्थान पर **पश्छिम** मुद्रण-त्रुटि है, नूतन वर्ण-विन्यास नहीं। त्रुटि के लिए हम क्षमार्थी हैं।—सम्पादक]

ललितकला–शब्दावली (२)

(गतांक से आगे)

—प्रभाकर माचवे

Akogi yaki (क.) ईसे प्रान्त में पायी जाने वाली जापानी मिट्टी के बरतनों की कला

Alabastron (क.) यूनानी लघु सुगंधिपात्र

Alberti bass (सं.) वेनिस के डोमेनिको अलबर्टी की शैली से बायें हाथ से वाद्य बजाना

Album, painting (चि.) छोटे-छोटे चित्र जो कि अलबम (संग्रह) में लगाये जा सकें

Alcohol (चि.) मादक द्रव जिसका उपयोग वार्निश और अन्य रंगों को घोलने के लिए किया जाता है

Alcora pottery (क.) 'इस्पाहानी कला' देखिए

Alcove (वा.) बड़े कमरे के कक्ष में या दीवार के अन्दर बन्द आला (ताख)

Alexander the Great (शि.) सिकन्दर महान्–यूनानी शिल्पकारों का विषय; मसिदोनी सिक्कों पर अंकित मुद्रा

Alhambra (क.) एक प्रकार का कपड़ा जिसमें महीन धागों पर मोटे डोरों से काम किया जाता है : इंग्लैंड में १८ वीं सदी में प्रयुक्त

Alizarin (चि.) एक प्रकार का गहरा गुलाबी रंग

Alla prima (चि.) सब रंगों को एक साथ लगा देने की एक चित्रशैली : इतालवी शब्द

Allee Couverte (वा.) पुरानी समाधि के पास जाने का सुरंग जैसा मार्ग : फ्रांसीसी शब्द

Allegory (सौ.) दृष्टांत या अन्योक्ति; चित्रकारों द्वारा प्रयुक्त प्रतीक-योजना

Allegro (सं.) स्वर की द्रुत गति

Alleluia (क. धा.) गिर्जाघर में प्रार्थना-संगीत के अन्त में लगाये जाने वाले संबोधन

Allemonde (नृ.) प्राचीन जर्मन नृत्य-पद्धति जो १६ वीं सदी के फ्रांसीसी दरबारों में और वहाँ से इंगलैंड-अमरीकी आधुनिक नृत्य में प्रचलित हुई; युग्म-नृत्य

Almemar (क. धा.) यहूदी प्रार्थना-मंदिर में वह ऊँची वेदी जिस पर पढ़ने की मेज भी लगी रहती है

Almohad art (क. धा.) 'इस्लामी कला' देखिए

Almoraird art (क. धा.) 'इस्लामी कला' देखिए

Alms bowl (क.) भिक्षा-पात्र : पूर्वीय कला में प्रतीक-योजना

Alpenhorn (सं.) स्विस गड़रियों द्वारा प्रयुक्त लकड़ी की तुरही

Alpha and Omega (चि.) यूनानी वर्णमाला का प्रथम और अन्तिम अक्षर; कला में सर्वसत्तावान् के लिए प्रयुक्त चिह्न

Altissimo (सं.) तार-सप्तक के उच्च स्वर

Altamira art (क. आ.) प्रागैतिहासिक कला

Altar (वा.) वेदी

Altar piece (वा.) वेदी पर रखी हुई मूर्तियाँ आदि

[क्रमशः

नियों में भी यही प्रथा थी। अवेस्ता में वैद्य की फीस गौ के रूप में देने का उल्लेख है। गौ के समान वस्त्रों से भी वस्तु-विनिमय का काम लिया जाता था। अष्टाध्यायी में वस्त्र से क्रीत गौ को 'वासन' कहा गया है (५।१।२७)। चीन देश में सातवीं शताब्दी ई० पू० में 'पू' नामक एक सिक्का चलता था, जिसका अर्थ कमीज है और जो शक्ल में हू-बहू पहनने की कमीज जैसा डेढ़-दो इंच लम्बा बनाया जाता था। इसी प्रकार चाकू की आकृति का पाँच-सात इंच लम्बा 'त्ज' नामक एक सिक्का होता था।

सिक्कों का सबसे पहले आविष्कार चाँदी या सोने के बराबर तोल के टुकड़ों में हुआ होगा। पश्चिमी जगत् में सिक्कों का सबसे प्रथम आविष्कार लीडिया देश में सात सौ ई० पूर्व के लगभग माना जाता है। इतिहासकार हीरोदोत ने निश्चित शब्दों में लिखा है कि, 'जहाँ तक हमें मालूम है, संसार के देशों में लीडिया देश के लोगों ने सबसे पहिले चाँदी-सोने को सिक्कों के रूप में ढाला।' हीरोदोत ने सच्चे ऐतिहासिक की भाँति उस समय भी यह सावधानी से लिख दिया था कि जहाँ तक उसकी जानकारी पहुँच सकी थी वहाँ तक लीडिया देश को सिक्कों के सर्वप्रथम आविष्कार का श्रेय प्राप्त था। किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है, और सिक्कों के सर्वप्रथम व्यवहार की कल्पना भारतवर्ष में पायी जाती है। चाँदी और सोने को बराबर तोल के टुकड़ों में काट कर या ढाल कर व्यवहार में चालू करना, यही सिक्कों का पहला भारतीय रूप था। उदाहरण के लिए शतपथ ब्राह्मण में 'हिरण्य-शतमान' और 'रजत-शतमान', अर्थात् दक्षिणा में दिये जाने वाले शतमानों, का उल्लेख पाया जाता है (५।५।५।१६; १२।७।२।१३)। कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार 'शतमान' का सम्बन्ध १०० से था, अर्थात् सौ 'मान' या रत्ती के बराबर तोल होने के कारण वह सिक्का 'शतमान' कहलाया। अष्टाध्यायी में, जो कि पाँचवीं शती ई० पूर्व में बनायी गयी थी, शतमान के सिक्के का उल्लेख हुआ है, 'शतमानेन क्रीतं शातमानम्' (अष्टाध्यायी ५।१।२७)।

अष्टाध्यायी में निष्क सिक्के का भी उल्लेख हुआ है। द्वित्रिपूर्वात् निष्कात् (५।१।३०) सूत्र में दो निष्क और तीन निष्क से मोल ली जाने वाली वस्तु के लिए 'द्विनैष्कि' 'त्रिनैष्किक' रूप सिद्ध किये गये हैं। यह स्थिति ५ वीं शती ई० पूर्व में थी। एक दूसरे सूत्र में इससे भी अधिक पुष्ट प्रमाण मिलता है। 'शतसहस्रान्ताच्च निष्कात्' (५।२।११९) सूत्र सौ निष्क और हजार निष्क धन की पूँजी वाले व्यक्ति के लिए 'नैष्कशतिक' और 'नैष्कसहस्रिक' शब्दों की सिद्धि बताता है। तत्कालीन भाषा में ये चालू शब्द थे। महाभारत में भी 'निष्कशत' और 'निष्कसहस्र' रूप में धन की दो कोटियों का एक ही श्लोक में उल्लेख हुआ है (अनुशा० १३।१२ 'शतेन निष्कगणितं सहस्रेण च संमितम्')। लेकिन निष्क शब्द का धन के रूप में प्रयोग पाणिनि से भी बहुत प्राचीन था। शतपथ ब्राह्मण में उद्दालक आरुणि ने उस व्यक्ति को एक सुवर्ण-निष्क देने की घोषणा की थी जो उसे शास्त्रार्थ में जीत ले (११।४।१।८)। निष्क की प्राचीनता और भी पहले जाती है, जब हमें निष्क का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। सिन्धु-तटवासी राजा भाव्य अपने पुरोहित कक्षीवान् को सौ निष्क, सौ घोड़े और एक सहस्र गौएँ दक्षिणा में देता है (ऋ० १।१२६।२)। अन्यत्र 'निष्क' को 'विश्वरूप' कहा गया है, जिसका अर्थ मुद्रा-शास्त्र की परिभाषा में ऐसा प्रतीत होता है कि जिस पर अनेक रूप या चिह्न अंकित थे। इस प्रकार का कोई सुवर्ण का गोल टुकड़ा 'निष्क' कहलाता था जो सम्भवतः आभूषण के काम में भी आता था (ऋ० २।३३।१०), क्योंकि कई जगह 'निष्कग्रीव' विशेषण भी मिला है। लेकिन महाभारत में जिस निष्क का वर्णन है वह आभूषण-मात्र नहीं, बल्कि सिक्का अर्थात् निश्चित तोल का सोने का टुकड़ा हो गया था।

साष्टं शतं स्वर्णाना निष्कमाहुर्धनन्तथा ।

अर्थात् प्रत्येक ब्राह्मण को १०८ सुवर्ण निष्क धन दक्षिणा में दिया गया। महाभारत में सभापर्व में वर्णन है कि विश्वकर्मा ने एक सहस्र निष्क से शंख बनाया था, जिसे समुद्र ने वरुण की ओर से युधिष्ठिर को भेंटमें दिया था (सभा पर्व ५४।१५)। इस प्रकार सौ निष्क, १०८ निष्क और सहस्र निष्क के उल्लेखों से निश्चित होता है कि महाभारत-कार निष्क को नपे-तुले सुवर्ण के टुकड़े के अर्थ में जानते थे। पतंजलि के समय तक निष्क के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। किन्तु यह भी सत्य है कि अभी तक एक भी सुवर्ण-निष्क उपलब्ध नहीं हुआ। यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं, जब हम यह देखते हैं कि अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के सदमुहरी सौ तोले, पचास तोले और बीस तोलेके भार के या शाहन शाही नामक सिक्कों में से अभी तक एक-दो को छोड़ कर और नहीं मिले, यद्यपि मुसलमानी इतिहास लेखक और पश्चिमी यात्रियों ने मुगल खजाने का परिचय देते हुए उनका वर्णन किया है। (होडीवाला 'मुगल मुद्राओं का अध्ययन', पृष्ठ ५३)।

महाभारत के एक अन्य प्रकरण की ओर मैं विशेष रूप से आपका ध्यान भारतीय सिक्कों की प्राचीनता प्रतिपादन करने के लिए दिलाना चाहता हूँ। युधिष्ठर ने अपने खजाने का वर्णन करते हुए कहा है—

ताम्रलोहै: पारवृता निधयो ये चतुःशताः ।
पंचद्रौणिक एकैकाः सुवर्णस्याहतस्य वै ॥
जातरूपस्य मुख्यस्य अनर्घेयस्य भारत ।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया॥

'मेरे कोष में ताँबे के बरतनों में चार सौ निधियां आहत सुवर्ण से भरी हुई हैं और एक-एक का तोल पाँच द्रोण है। उनका सोना अव्वल किस्म का है।' अभी तक सिक्कों को आहत अर्थात् चिह्नित करने की प्रथा (अंग्रेजी-'पंचमार्क्ड') से हमारा परिचय चाँदी के कार्षापण सिक्कों तक ही सीमित है। किन्तु इस प्रमाण से ज्ञात होता है कि इसका आरम्भ सोने के एक जैसी तोल के टुकड़े बना कर उन पर रूप या सिम्बल्स टंकित करने से आरम्भ हुआ। इसी के लिए प्राचीन पारिभाषिक शब्द 'आहत' था, जिसे अब हम 'पंचमार्क' कहते हैं। रूप-समुत्थापन करने के कारण ही सुवर्णकी एक संज्ञा 'जातरूप' पड़ी, अर्थात् जिस पर रूप या किसी प्रकार का चिह्न यन्त्रित कर दिया गया हो। सोने के अर्थ में 'जातरूप' शब्द चारों वेदों में से किसी में प्रयुक्त नहीं मिलता। सम्भवतः ब्राह्मणकाल में रूपों के आहत करने की प्रथा का आरम्भ हुआ, जैसा कि महाभारत में उल्लेख है। उस समय से आहत के लिए 'जातरूप' शब्द का प्रयोग आरम्भ हुआ होगा और शनैः शनैः यह शब्द सुवर्ण का पर्यायवाची हो गया। इससे यह भी ज्ञात होता है कि आरम्भ में सुवर्ण पर ही रूप-छेदन (सिम्बल पंच) करने की प्रथा थी, चाँदी पर रूप के ठप्पे लगाना उसके पीछे शुरू हुआ।

पाणिनीय सूत्र 'जातरूपेभ्यः परिमाणे' (४।३। १५३) में 'जातरूप' से तात्पर्य रूप-समुत्थापित हिरण्य से है, यदि इस प्रकार का हिरण्य एक निश्चित परिमाण या तोल का वाची हो। प्राचीन साहित्य में जहाँ हिरण्य और सुवर्ण साथ-साथ आते हैं, जैसे जातक (६।७९ हिरञ् सुवण्णा) और अर्थशास्त्र में, वहां हिरण्य वह सोना था जिसे सिक्कों का रूप नहीं प्राप्त हुआ था। आजकल की भाषा में उसे पासा या गुल्ली कहेंगे। जब रूप से आहत हो कर वह सिक्के की शकल में आता तब उसे सुवर्ण कहते थे। अर्थात् अनढले सोने की संज्ञा 'हिरण्य' और ढले हुए की 'सुवर्ण' थी। सुवर्ण नामक सिक्के के वास्तविक अस्तित्व का प्रमाण महाभारत, अष्टाध्यायी और अर्थशास्त्र से मिलता है यद्यपि अभी तक उसका भी कोई नमूना नहीं मिला। सुवर्ण की खरीज के रूप में पाद-सुवर्ण और सुवर्ण-[illegible]

सिक्के भी होते थे। उदय जातक में सुवर्ण-माषकों से भरी हुई सोने की थाली (पात्री) का वर्णन है।

प्राचीन भारतवर्ष में सिक्कों की तोल क्या थी, यह बहुत उलझा हुआ विषय है। ज्ञात होता है कि शतमान या सौ रत्ती की तोल देशी परम्परा के अनुसार थी। सौ रत्ती तोल के चाँदी के शतमान सिक्के तक्षशिला की खुदाई में मिले हैं, जो अब तक के प्राप्त भारतीय सिक्कों में सबसे पुराने हैं। वे आकृति में दीर्घ शलाका के समान हैं। विसुद्धि मग्ग में चित्त विचित्त अर्थात् रूप से आहत सिक्के तीन तरह के कहे गये हैं— १. लम्बे (दीर्घ), २. चौकोर (चतुरस्र) और ३. गोल (परिमंडल) विसुद्धि मग्ग (२।४३७)। लम्बे सिक्कों की पहचान में तक्षशिला के शतमान ही हमारे सामने आते हैं। शतमान या सौ रत्ती की तोल का २/५ भाग, अर्थात् ४० रत्ती या बीस माशे का एक सिक्का पीछे चालू हुआ, जो 'विंशतिक' कहलाया। इससे भी पुराना साठ रत्ती का 'त्रिंशत्क' सिक्का था। पाणिनि के समय में ये दोनों सिक्के चालू थे (५।१।२५)। पाणिनि ने 'शाण' नामक एक सिक्के का भी उल्लेख किया है (५।१।३५)। महाभारत वन-पर्व से ज्ञात होता है कि आठ शाण सिक्कों का एक शतमान (अष्टौ शाणाः शतमानं वहन्ति, वन० १३४।१४) होता था। इस प्रकार १२ १/२ रत्ती की तोल का चाँदी का छोटा सिक्का शाण कहलाता था।

अष्टाध्यायी और उससे सम्बन्धित टीकाओं (कात्यायन, पतंजलि और काशिका) में प्राचीन आहत-सिक्कों का जितना विशद वर्णन है, उतना अन्यत्र नहीं पाया जाता। आहत मुद्राओं की तोल के अनुसार उनके नामों की ठीक पहचान एवं उन पर अंकित रूप या लक्षणों का अभिप्राय और ऐतिहासिक महत्त्व, ये दो खोज के मुख्य विषय हैं। तोल के हिसाब से इन सिक्कों की मोटे तौर पर यह तालिका दी जा सकती है—

संख्या नाम	तोल रत्ती में	ग्रेन में (१ रत्ती=१.८ ग्रेन)
१. शतमान	१००	१८०
२. अर्ध शतमान	५०	९०
३. पाद शतमान	२५	४५
४. पादार्ध शतमान या शाण	१२ १/२	२२ १/२
५. त्रिंशत्क	६०	१०८
६. विंशतिक	४०	७२
७. कार्षापण [=प्रति—अन्य नाम]	३२	५७.६
८. अर्धकार्षापण [भाग]	१६	२८.८
९. पंचमाषिक [पादविंशतिक]	१०	१८
१०. पादकार्षापण	८	१४.४
११. अष्टभाग कार्षापण	४	७.२
१२. रौप्य माष	२	३.६
१३. अर्ध-रौप्य-माष	१	१.८
ताँबे के सिक्के (ताम्रिक)		
१४. कार्षापण	८०	१४४
१५. अर्धकार्षापण	४०	७२
१६. पादकार्षापण	२०	३६
१७. अष्टभाग कार्षापण	१०	१८
१८. माष	५	९
१९. अर्ध माष	२ १/२	४ १/२
२०. काकिणी	१ १/४	२ १/४
२१. अर्ध काकिणी	५,८	१.०१२५
२२. त्रिंशत्क	१५०	२७०
२३. विंशतिक	१००	१८०
२४. अध्यर्ध त्रिंशत्क	२२५	४०५
२५. अध्यर्ध विंशतिक	१५०	२०७

आहत मुद्राओं की जो निधियाँ अब तक मिली हैं उनके सिक्कों की वास्तविक तोल के साथ यदि ऊपर लिखे हुए वजन का मिलान किया जाए तो उनमें से बहुतों की पहचान सम्भव है। श्री दुर्गाप्रसाद जी ने विंशतिक और त्रिंशत्क की प्राप्ति की सूचना मुझे दी थी। यद्यपि जातकों में चाँदी के अष्ट-मासक का उल्लेख है, पर मुझे एक रत्ती के कण बराबर सिक्के के अस्तित्व में सन्देह था। सौभाग्य से अभी हाल में इतने छोटे सिक्के मुझे प्राप्त हुए हैं, जिन्हें बिना देखे विश्वास करना कठिन था। जहाँगीर के

पास सिन्ध नदी में सोना धोने वाले न्यारिए बालू को कपड़े में छानते हैं। उन्हीं से सौ के लगभग रौप्य-मापक प्राप्त हुए हैं, जिनमें कई अद्भुत रौप्य माषक भी हैं। तक्षशिला [भीरटेकरी], पेशावर, अफगानिस्तान, पैला, सहेट-महेट, लीतापुर, अहरोरा, गोलखपुर [पटना], रमना [कटक], मछुवाटोली [पटना], घोसोघाट, भागलपुर, पतराहा [पुरनिया], रेढ [जयपुर], बहल [पूर्वी खानदेश], करीमनगर [हैदराबाद]. सुलतानपुर, वाई [सितारा], बांदिना-यक्कन्नूर[मदुरा], जौनपुर, बरवानी [मालवा] आदि स्थानों से प्राप्त आहत मुद्रानिधियों की बहुमूल्य सामग्री संग्रहालयों में सुरक्षित है। सिक्कों की तोल के अनुसार इनकी जाँच होनी चाहिए।

इन सिक्कों पर जो चिह्न अंकित हैं वे विसुद्धि-मग्ग के अनुसार इस बात के द्योतक थे कि किस ग्राम, निगम, नगर, पर्वत नदी-तीर और आचार्य शिल्पी के हाथों ये सिक्के बनाये गये थे। अभी तक इस सम्बन्ध में कोई कुंजी उपलब्ध नहीं हुई। मोटे तौर पर पूर्वकालीन, मध्यकालीन और उत्तरकालीन, इन तीन प्रकार की मुद्राओं और चिह्नों की पहचान होती है। श्री दुर्गाप्रसाद जी इन मुद्राओं के विशेष अध्ययन के बाद इस परिणाम पर पहुँच रहे थे कि पाँच रूपों में जो दूसरा रूप है; जिसे संस्कृत में षडर (छैरिया) और अंग्रेजी में 'सिक्स आर्म्ड सिम्बल' कहा जाता है, वह तिथि-क्रम के अनुसार बदलता रहा है। जिस षडर की भुजाओं में परिमंडल, नन्दिपद-गर्भित परिमंडल (ओवल विद टारीन), त्रिक-गर्भित परि-मंडल, डमरू-गर्भित परिमंडल अथवा बिन्दु-गर्भित त्रिकोण के चिह्न हैं वे पूर्वकाल के हैं, और जिनमें नन्दिपद और बाण का सम्मिलन है वे बाद के हैं। यह पहचान और भी कई प्रकार से, विशेषतः मुद्राओं के आकार-प्रकार (फेब्रिक) और रूपों के समुदाय (सिम्बल ग्रूप्स) से, भी ज्ञात होती है।

पाली ग्रन्थों में और पाणिनि की अष्टाध्यायी में चाँदी के चालू सिक्के को 'कार्षापण' कहा गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सैकड़ों जगह इस सिक्के का उल्लेख है, पर सर्वत्र इसे 'पण' कहा गया है। 'कार्षापण' नाम 'कर्ष' और 'पण' इन दो शब्दों से बना है। 'कार्षापण' शब्द वैदिक या ब्राह्मण साहित्य में नहीं पाया जाता। 'कर्ष' शब्द असीरियन भाषा के 'कर्षु', यूनानी 'केरसोस' [Kerasos] से बना है। अंग्रेजी का चेरी (Cherry) शब्द भी इसी से बना है। मूल में 'कर्षु' शब्द का अर्थ 'छोटी बौंडी के आकार का फल' था। पुर्तगाली भाषा में इसी का रूप 'कैश' हुआ जिससे अंग्रेजी में रोकड़ के अर्थ में 'कैश' (Cash) शब्द का व्यवहार होता है (यह संदिग्ध है – सं.)। चीनी लोग भी अपने चौकोर छेद वाले गोल सिक्के के लिए 'कैश' शब्द का व्यवहार प्राचीन काल से करते रहे हैं। (यह शब्द तामिल 'कसु' से आया है—सं.)। संभवतः भारतवर्ष में यह शब्द पणिनि से पहले छठी या सातवीं शताब्दी में लिया गया होगा। 'कर्ष' शब्द एक तोल का नाम था। कर्ष के बराबर जो सिक्का या 'पण' था वह 'कार्षापण' प्रसिद्ध हुआ। सौ रत्ती की शतमान तोल के स्थान में ८० रत्ती वाले कर्ष की तोल की स्थापना भारतवर्ष में इसी समय हुई जान पड़ती है। ज्ञात होता है कि उस समय चाँदी और ताँबे की धातुओं का पारस्परिक मूल्य दो और पाँच के अनुपात में था। जिस प्रकार चाँदी की सौ रत्ती तोल वाले शतमान का २/५ भाग अर्थात् ४० रत्ती की तोल का विंशतिक सिक्का था, उसी प्रकार ८० रत्ती के २/५ अर्थात् ३२ रत्ती तोल का हलका नया कार्षापण चालू हुआ। राजा बिंबसार के समय में विंशतिक था, और नन्द राजाओं के समय में, अर्थात् पाँचवीं शताब्दी में, ३२-रत्ती वाला कार्षापण चालू हो गया था। पाणिनि के समय में भी दोनों सिक्के एक साथ चल रहे थे। और दोनों का सम्बन्ध दो प्रकार की तोल के मान से था। पाँचवीं शताब्दी में जब नन्दों का देशव्यापी साम्राज्य स्थापित हुआ तब तोल और सिक्कों के मान को व्यवस्थित करने की आवश्यकता अनुभव हुई, एवं नन्दों ने यह काम पूरा किया। व्याकरण-

साहित्य में एक प्राचीन उदाहरण है, 'नन्दोपक्रमाणि मानानि' अर्थात् नाप-तोल को स्थिर करने का काम पहले नन्द नामक सम्राट् ने किया। नन्दों की राजधानी पाटलिपुत्र में थी, इसीलिए नाप-तोल की यह परिपाटी 'मागध' के नाम से प्रसिद्ध हुई। कलिंग देश ने नन्दों और मौर्यों के समय में भी अपनी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रक्खी, इसलिए कलिंग देश की नाप-तोल कालिंग मान के रूप में अलग जारी रही। ज्ञात होता है, नन्दों ने ८० रत्ती वाले कार्षापण को ही बहुत मान्यता दी। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में तो इसका निश्चित प्रमाण मिलता है कि मौर्य-युग में ८० रत्ती वाला कर्ष और उससे सम्बन्धित ३२ रत्ती का चाँदी का कार्षापण मान्य थे। कुछ जनपदों में पुरानी तोल रही और कुछ में नयी तोल जारी हुई। पंचाल जनपद के राजाओं के सिक्के पुरानी तोल के आधार पर ढाले हुए हैं। मौर्यों के समय में बाजार में चाँदी का कुछ अभाव हुआ जान पड़ता है। चौथी शताब्दी में ईरानी साम्राज्य के हट जाने पर और ईरान के साथ व्यापार-सम्बन्ध कुछ ढीला पड़ जाने के कारण भारतीय बाजारों में चाँदी का (जो अंदराब की खानों से आती थी) तोड़ा हो गया था। मौर्यों के बहुत से सिक्के ताँबे पर चाँदी का पानी चढ़ा कर ढाले हुए हैं। यूनानियों के साथ जो राजनैतिक कशमकश थी उससे व्यापार की स्थिति पहले जैसी न सुधर सकी। शक-पार्थव राजाओं के उत्तर-पश्चिम में सत्तारूढ हो जाने पर तो यह व्यापारिक मार्ग और भी अधिक कठिन हो गया था, यहाँ तक कि पहली शती ईसवी में रोम देश के निवासियों को स्थल-मार्ग से हाथ धोने के कारण भारतवर्ष से व्यापार-सम्बन्ध के लिए जल-मार्ग का आश्रय लेना पड़ा। लगलग द्वितीय शताब्दी ई० पूर्व से तीसरी शताब्दी ईसवी तक हम स्पष्ट देखते हैं कि भारतीय बाजारों में चाँदी की तंगी जारी रही और ताँबे के सिक्कों का बोलबाला रहा। गणराज्यों के और विभिन्न जनपदों के ढले हुए सिक्के सब ताँबे के ही हैं। कुषाण सम्राटों ने यद्यपि सोने के सिक्के भी चलाये, किन्तु प्रधानता ताँबे के सिक्कों की रही।

कुषाणों के ताँबे के सिक्के धार्मिक और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सूचना देते हैं। गांधार से ले कर काशी और पाटलिपुत्र तक ये सिक्के बाजारों में छा गये थे। इन सिक्कों के एक ओर नन्दी-वृषके साथ खड़े हुए शिव की मूर्ति इनकी विशेषता थी। मृच्छकटिक में कुषाण-कालीन ताँबे के सिक्कों के लिए ही नाणक नाम आया है [अंक १, दृश्य १]। टीकाकार ने उसे 'शिवांक टंक' अर्थात् शिव की मूर्ति से अंकित सिक्का कहा है। मालवा और सौराष्ट्र के शकों ने जो चाँदी के सिक्के चलाये थे, उन्हें विनयपिटक की समन्तपासादिका टीका में 'रुद्रदामक' कहा गया है। इनकी तोल पुराने कार्षापण सिक्कों की तीन-चौथाई थी। बृहत्कल्पसूत्र-भाष्य में पाटलिपुत्र के मुरुंड राजाओं का उल्लेख है, और पूर्व देश में प्रचलित सिक्कों को 'केवडक' या 'केतर' नाम दिया गया है। ये किदर कुषाणों के सिक्के ज्ञात होते हैं। इन्हीं के लिए काशिका में 'केदार कार्षापण' नाम आया है।

गुप्तकाल में चालू सिक्कों की संज्ञा 'सुवर्ण' और 'कार्षापण' थी। शुक्रनीति के अनुसार चाँदी से सोने का मूल्य १६ गुना अधिक था—रजतं षोडशगुणं भवेद् स्वर्णस्य मूल्यकम् (१४।२।९२)। उस युग में भूमि की नाप-जोख करके प्रत्येक के क्षेत्रफल और उस पर नियत राजदेय कर की निश्चित व्यवस्था कर दी गयी थी। कोई भी राजा हो, प्रजा इस षष्ठांश राजग्राह्य भाग को धर्म्य मान कर पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसका पालन करती थी। शुक्रनीति में इस व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट लिखा है कि भूमि-कर का निश्चय चाँदी के कार्षापण सिक्कों में ही किया गया था। जिसकी भूमि-कर से आय प्रतिवर्ष १ लाख हो वह सामन्त कहलाता था। तीन लाख राजत कार्षापण की आय का नृप, दस लाख का मांडलिक, बीस लाख का राजा, ५० लाख का महाराज, १० करोड़ का स्वराट्, ५० करोड़ का विराट् और इससे अधिक का सार्वभौम संज्ञा का अधिकारी था (शुक्रनीति १।१८३–१८७)। प्रत्येक क्षेत्र की भूमि-सम्बन्धी

आय के ये आँकड़े व्यावहारिक महत्त्व के थे। पीछे के लेखों में देशों के नाम के साथ जो बड़ी-बड़ी संख्याएँ दी हुई मिलती हैं (जिनके अभिप्राय के बारे में मत-भेद रहा है), वे संख्याएं लगान की कुल जमाबन्दी का संकेत करती थीं, जिनकी स्मृति गुप्तकाल के बाद भी बराबर जारी रही।

यह सर्व-विदित है कि मुद्राओं की दृष्टि से गुप्त-काल भारतवर्ष का स्वर्ण-युग था। गुप्त-मुद्राएँ उस युग के देशव्यापी रूप-सत्र (ब्यूटी कल्चर) की सच्ची प्रतिनिधि हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय की मुद्रा पर 'रूपाकृति' पद इसी भावना को प्रकट करता है। स्वयं सम्राट् मुद्राओं में व्यक्तिगत रुचि लेते थे। उत्पताक (स्टैण्डर्ड), धनुर्धर (आर्चर), हुताग्नि, (आल्टर), गंधर्व-ललित (लायरिस्ट), सिंहपराक्रम, व्याघ्रनिहन्ता, खड्गत्राता, अश्वारोही, अप्रतिघ, भद्रासन एवं अश्वमेध (जिस पर अनर्गल होमतुरंग [रघुवंश ३।३९] की सुन्दर आकृति है), इत्यादि भाँति-भाँति की कलात्मक स्वर्ण-मुद्राएँ सम्राटों के शुभ्र यश और चरित की परिचायक हैं। गुप्तयुग में देश और विदेश-गत व्यापार से जो अभूतपूर्व समृद्धि हुई वह स्वर्ण-मुद्राओं के रूप में सर्वत्र छा गयी। राज-प्रासाद कुटीर, नगर, ग्राम उससे भर गये। आज भी उन मुद्राओं को देख कर विदित होता है मानो पौर-जान-पद-भवनो में विचरण करती हुई लक्ष्मी अपने चरणों की ललित-छाप छोड़ गयी हो। बयाना से प्राप्त गुप्त-मुद्राओं की निधि जब हम देखते हैं तो वह समृद्धि मूर्तिमती हो उठती है। लोगों ने चकित हो कर सोचा कि इतनी सुवर्ण-सम्पत्ति पृथ्वी से उत्पन्न नहीं हो सकती, यह तो आकाश से प्राप्त सुवर्ण-वृष्टि है जो राजप्रासाद से ले कर गाँवों तक में बरसी है। कालि-दास ने रघुवंश के पाचवें सर्ग में इस सुवर्ण-वृष्टि के अभिप्राय (मोटिफ) का काव्यमय वर्णन किया है, और इसे भूलोक का दोहन या कुबेर के कोष का वर्षण कहा है। 'दिव्यावदान' में भी इस अभिप्राय का वर्णन, मान्धाता चक्रवर्ती के राज्य में एक सप्ताह तक हिरण्य-वर्षा के रूप में, आया है।

गुप्तों के बाद की मुद्राओं के नामों में तीन नाम विशेष उल्लेखनीय हैं – १ पण्णिक, २ पर्यंक, ३ साभ-रक। जैनों के व्यवहार-भाष्य में पण्णिक नामक सिक्के का, हरिभद्र की आवश्यक टीका में पर्यंक का और बृहत्कल्प सूत्र-भाष्य में साभरक का उल्लेख है। पण्णिक कौन सा सिक्का था? मेरी सम्मति में भारतवर्ष में चलने वाले सासानी सिक्कों के लिए पण्णिक नाम आया है। सासानी सम्राट् अरसेक जिस कबीले का था उसका नाम पर्णी (Parni) था। ईरान के प्राचीन दस्युओं का यह एक कबीला था। अरसेक और मीड दोनों जातियों का पार्थिया प्रान्त (वर्तमान खुरासान) में सम्मिलन हुआ और उनका सम्मिलित राजवंश अरसेक नामक हुआ, जिसकी भाषा पहलवी हुई। इसी पर्णी जाति के राजाओं के सिक्के भारतवर्ष में पर्णिक या पण्णिक कहलाये। दूसरा पर्यंक नामक सिक्का 'पदांक' से है, अर्थात् जिन सिक्कों पर पैर का चिन्ह बना हुआ था। ये सिक्के इंडो-सासानी है, जो कई सौ वर्षों तक भिन्न-भिन्न रूपों में इस देश में चलते रहे। साभरक सिक्कों के विषय में बृहत्कल्पसूत्र-भाष्य में श्लोक है;

दो साभरगा दीविच्चगातु सो उत्तरपथे एक्को।
दो उत्तरापहा पुण पाडलपुत्तो हवति एक्को॥

(३८९१ श्लोक)

अर्थात् साभरक द्वीप के दो सिक्के उत्तरापथ के एक सिक्के के बराबर और उत्तरापथ के दो सिक्के पाटलिपुत्र के एक सिक्के के बराबर मूल्य में थे। श्री मोतीचन्द्र जी ने साभरक द्वीप के सिक्कों की पहचान अरब के सैबियन सिक्कों से सुझायी है, जो ठीक जान पड़ती है। अभी यह जानना शेष है कि साभरक से दुगने मूल्य के उत्तरापथ के सिक्के कौन-से थे? मध्य-कालीन सिक्कों का विषय अभी तक बहुत उलझा हुआ है। हर्ष से ले कर १२ वीं शती तक के सिक्कों के नाम, तोल और मूल्य पर विद्वानों को विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। उनकी संख्या और किस्में बहुत सी हैं, और उनकी सामग्री भी संग्रहा-

ज्ञयों में पर्याप्त है। सीयदोणी शिलालेख में इतने सिक्कों के नाम हैं —

१. पंचयिक द्रम्म और उसके पाद सिक्के, २. विग्रहपाल द्रम्म और उसका आधा भाग, द्रम्मार्धिका, ३. आदिवराह द्रम्म और उसके पाद सिक्के, ४. पंचियक द्रम्म, ५. विग्रहपालीय द्रम्म और उसका द्रम्मार्ध, ६. विग्रह पालीय द्रम्म और उसका तृतीय भाग द्रम्म, ७. विग्रह द्रम्म से सम्बन्धित विंशोपक सिक्का। मध्यकालीन सिक्कों का यथार्थ वर्गीकरण करके उनकी तोल निश्चित करने पर इन सिक्कों की पहचान करना सम्भव होगा। इसी के साथ भिल्लमाल के सिक्कों के बहुत से उल्लेख मिलते हैं। निशीथ चर्णि में 'रूपमयं नाणकं भवति यथा भिल्लमाले द्रम्मः' [पृ० ६१६] कहा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि भिल्लमाल का द्रम्म चाँदी का होता था। इसी का दूसरा नाम श्रीमालीय द्रम्म था, और इसे ही पारीथय द्रम्म भी कहते थे। लेख-पद्धति नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि ये द्रम्म १३ वीं शती तक चालू थे। उस काल के व्यवहार-पत्र या उधार रुक्कों में लिखा जाता था—'श्री श्रीमालीयखरटंकशालाहत--त्रिःपरीक्षित-- हट्टव्यावहारिक्य-प्रचलित-श्रेष्ठ-श्रीमत्पारीपथ- रौक्यगृहीत-- द्रम्माः' अर्थात् श्रीमालनगर की टंकसाल में आहत, तीन वार परखे हुए, हाट के व्यवहार में आने वाले, चालू, बिना मिलावट के, रोकड़ लिये हुए पारोपथ द्रम्म। यह इबारत बहुत दिन पीछे तक चालू रही। शाहजहाँ कालीन एक गिरवी-पत्र (ग्रहणक-पत्र) में लिखा मिला है—अहमदावाद नी टंकसालना आकराकोरा परा मासा ११॥ रुपैया २०। पुरातन प्रबन्ध-संग्रह [सिंघी ग्रन्थमाला पृ० २१] से ज्ञात होता है कि चाँदी का १ पारुथक द्रम्म ८ साधारण द्रम्मों के बराबर था (एकस्मिन् पारुथके अष्टौ द्रम्मा भवन्ति)। मारवाड़ में जालोर के राय उदयसिंह के मंत्री ने सुलतान से कहा–'वयं द्रम्मान् न जानीमः। पारुथकान् दास्यामः। खरतरगच्छ पट्टावली [१०१०-१२३६ ई०] में लिखा है कि मालवे के परमार राजा नरवर्मन् ने तीन लाख पारुथ द्रम्म जैन आचार्य जिनवल्लभसूरि को देना चाहा, किन्तु आचार्य ने चित्तौड़ के दो खरतरगच्छीय मंदिरों की रक्षा के लिए केवल दो पारुथ द्रम्म लेना स्वीकार किया। लेख-पद्धति में विग्रहपाल या बीसलदेव के द्रम्मों का भी उल्लेख है जिन्हें 'जीर्ण विश्वमल्ल प्रिय द्रम्म' कहा है अर्थात् ये पहले के बने हुए थे। इन्हें एक बार 'श्रेष्ठ द्विवल्लक्य वीसलप्रिय द्रम्म' अर्थात् जिनमें दो बाल वजन की ओछीधातु की मिलावट है, ऐसा कहा गया है। श्रीधराचार्य कृत गणितसार की टीका के अनुसार ३ रत्ती का एक बाल होता था। इसलिए द्विवल्लक्य द्रम्म में ६ रत्ती खोट या मिलावट रहती थी। इसी के अनुसार ८ बाल या २४ रत्ती का अर्ध गद्याणक और १६ बाल या ४८ रत्ती का एक गदियाण सिक्का होता है। युगप्रधानाचार्य गुर्वावली में इन्हें केवल 'द्विवल्लकद्रम्म' नाम से पुकारा गया है। छोटे सिक्कों में 'विंशक' ताँबे का सिक्का था। २० वराटक या कौड़ी की १ काकिणी होती थी, जिसे 'बोडी' भी कहते थे। ५ काकिणी या बोडी का १ पण होता था। सम्भवतः काकिणी या बोडी मूल्य में पण का चौथाई ताँबे का सिक्का था। बोडी या बोड़िआ सिक्के का उल्लेख सबसे पहले मृच्छकटिक में मिलता है—

अद्धं शदं देमि शुवण्ण दे कहावणं देमि शबोडिअदे
[अंक ७, श्लोक ४०]

[अर्धशतं ददामि सुवर्णकं ते कार्षापणं ददामि सबोडिकं ते]

सोने का सुवर्ण, चाँदी का कार्षापण और ताँबे का बोडिक, ये तीनों गुप्तकालीन सिक्के थे [देखिए शुक्रनीति — रजतस्वर्णताम्रादिव्यवहारार्थमुद्रितम्। व्यवहार्यवराटाद्यं रत्नान्तं द्रव्यमीरितम्। [२।३५४]। मध्यकाल में 'षड्बोडिक द्रम्म' नामक एक छोटे सिक्के का नाम जौनपुर से प्राप्त एक लेख में [१२१७ ई०] भंडारकर सूची, सं० ४६८ में आया है। यह

भी संभवतः ताँबे का सिक्का था। मध्यकालीन मुद्राओं की सामग्री एक स्रोत गणित-ग्रंथ हैं, जिनमें सिक्कों के नाम, मान, तोल आदि के साथ उनके व्यावहारिक प्रयोग की भी अच्छी सामग्री पायी जाती है। श्रीधर के गणितसार पर श्री भोगीलाल संडेसरा का एक लेख परिषद् की पत्रिका में प्रकाशित हुआ था; शेष सामग्री अभी तक अनधीत है।

इधर हाल में भारतीय सिक्कों पर ठक्कुर फेरू कृत 'द्रव्य परीक्षा' नामक एक ग्रन्थ प्राप्त हुआ है। ठक्कुर फेरू अलाउद्दीन खिल्जी की दिल्ली की टकसाल के अध्यक्ष थे। उन्होंने संवत् १३७५ (ई० १३१८-१९) में अलाउद्दीन की मृत्यु से दो वर्ष पीछे यह ग्रन्थ अपने भतीजे को सिक्कों का ज्ञान कराने के लिए लिखा था। ग्रन्थ में १४९ गाथाएँ अपभ्रंश-प्राकृत मिश्रित भाषा में हैं। इस ग्रन्थ की एक प्रति कलकत्ते के जैन-भंडार में सुरक्षित है। श्री अगरचंद नाहटा की कृपा से मुझे यह प्राप्त हुई और अब उसकी फोटोस्टाट प्रतिलिपि करा ली गयी है। परिषद् के लिए उसका संपादन-प्रकाशन किया जा रहा है। ग्रन्थ के आरम्भ में सोने-चाँदी को शोधने की विधि है। यह विधि वही है जिसका विस्तृत उल्लेख अबुलफजल ने आईन-अकबरी में किया है। प्राचीन समय में एक राजा के चलाये सिक्के उसके बाद भी कई सौ वर्षों तक चलते रहते थे। राजा भोज के आदिवराह द्रम्म से ले कर उत्तर-दक्षिण के अनेक सिक्के अलाउद्दीन के समय में भी चालू रहे। नाप-तोल और मूल्य का इसमें वर्णन है। ये सिक्के जब टकसाल में गलाने के लिए लाये जाते थे तब उनकी चासनी ली जाती थी और उनके नाम, तोल, मूल्य और चाँदी की मात्रा का ठीक-ठीक हिसाब लगाया जाता था। वही सामग्री इस ग्रन्थ में है। ढोका सोने की थकिया या लौंदी ले कर, उसे परगहनी में चुआ कर उसकी गुल्ली या गुल्ली बनायी जाती थी और फिर बराबर के टुकड़े काट कर पन्ना या पत्तर बना कर उसे शोधते थे। इस प्रक्रिया का ब्यौरेवार वर्णन ठक्कुर फेरू ने किया है। मुद्राओं में खुरासानी मुद्रा, गुर्जरी मुद्रा, मालवी मुद्रा, चंदेरी मुद्रा, जालन्धरी मुद्रा, दिल्ली की तंवर राजाओं की मुद्रा, दिल्ली की मुसलमानी मुद्रा, और अन्त में 'अश्वपतिमहानरेन्द्र पातसाही अलावद्दीन मुद्रा' का विशद वर्णन है। गुर्जरी सिक्कों में कन्नौज के भोजदेव के (८३६-८९०) श्रीमदादिवराह द्रम्म और उसके पौत्र श्री विनायकपाल देव (९१४-९४३) की विनायकी मुद्राओं का उल्लेख है। सौभाग्य से विनायकी सिक्के अभी हाल में ही मुद्राविशेषज्ञों को प्राप्त हुए हैं, जो ठक्कुर फेरू के कथन की पुष्टि करते हैं (मुद्रा परिषद पत्रिका १०।२८)। ठक्कुर फेरू ने सिक्कों के लिए मध्यकालीन भाषा का 'आछू (अच्छु)' शब्द प्रयुक्त किया है। यह शब्द श्री प्रो० मीराशी जी को कलचुरिनरेश पम्पराज के ताम्रपत्र में प्रयुक्त मिला था (मुद्रा-पत्रिका जून १९४१, पृ० ३७)। मेरठ की भाषा में यह अभी तक चालू है। देवगिरि की मुद्राओं में सीघंण, महादेव, राम की मुद्राओं का उल्लेख है। इनके 'पद्मटंक' कृष्णा जिले के राछपतनम् स्थान से प्राप्त एक निधि में मिले थे [न्यूमि० सप्ली०, १९२५, पृ० ६-९]। कलचुरि सं० ९४४ के रीवां के एक लेख में 'भगवन्मुद्रा' का हवाला है। फेरू ने भी इसे 'भगवा' मुद्रा कहा है, जो सोने-चाँदी-ताँबे के मेल से त्रिधातु मुद्रा होती थी। अंग्रेजी बिलन के बने सिक्कों को द्विधातु या 'दुधाउ' कहा गया है। इस ग्रन्थ में वर्णित कितनी ही मुद्राएँ अभी तक नामशेष हैं। उनकी पहचान करनी होगी, एवं प्रत्येक प्रकार के सिक्कों में जो चाँदी की मात्रा दी गयी है, गलवा कर उसकी पड़ताल करनी होगी तभी ठक्कुर फेरू के कथन की सच्चाई परखी जा सकेगी।

मुगल कालीन सिक्कों के नामों और आपेक्षिक तोल, मूल्य आदि की सामग्री का बहुत अच्छा अध्ययन श्री होडीवाला ने फारसी इतिहास–

ग्रन्थों के आधार से प्रस्तुत किया था । वह आज भी मूल्यवान् है । मुगलों के बाद मराठा-काल में और कम्पनी-काल में बहुत प्रकार के नये सिक्के चालू हुए जिनके पचपन नामों की एक अच्छी सूची पुरानी बहियों से श्री चापेकर महोदय ने संगृहीत की थी और उसे मेरी प्रार्थना पर मुद्रा-परिषद् की पत्रिका में प्रकाशित कराया था [१९५०-५१] । उनकी पहचान भी करणीय है । इस प्रकार वैदिक काल से ले कर आधुनिक समय तक के सिक्कों के सम्बन्ध में जो साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध हैं उनका कुछ परिचय यहाँ देने का प्रयत्न किया है ।

सिक्कों की भाँति ही प्राचीन स्थानों से प्राप्त मिट्टी की मुहरों का भी ऐतिहासिक महत्त्व है, किन्तु अभी तक इस दिशा में उचित तथा संगठित प्रयत्न नहीं किया गया । इस सामग्री की ओर विशेष रूप से आप सब का ध्यान आकर्षित करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ । राजघाट से प्राप्त लगभग दो सौ मुहरों में काशी और वत्स-जनपदों के राजाओं के नाम मिले हैं और मघवंशी राजाओं के समय काशी और वत्स का जो पारस्परिक सम्बन्ध था, उस पर मुहरों से जो प्रकाश पड़ा है, वह सिक्कों से भी नहीं हुआ था । एक मुद्रा पर राजा कौत्सीपुत्र शिवमघ का नाम है जो गौतमीपुत्रशिवमघ से भिन्न है । राजघाट की इस सामग्री का अध्ययन हो चुका है और वह शीघ्र एपिग्राफिया इंडिका में प्रकाशित होगी । इधर नालन्दा से प्राप्त मुहरों का नवीन अध्ययन डा० अल्टेकर ने किया है, जिसमें अन्य सामग्री के अतिरिक्त बालादित्य का नाम भी मिला है । संग्रहालयों में सुरक्षित मुहरों पर एक स्वतन्त्र पुस्तक की बहुत आवश्यकता है जो इस विषय को विद्वानों के अध्ययन-क्षेत्र में ला सके ।

यह देख कर प्रसन्नता होती है कि भारतीय मुद्रा-परिषद् की स्थिति इस समय देश की वैज्ञानिक परिषदों में बहुत अच्छी है । उसके प्रकाशन, पत्रिका, उत्साही कार्यकर्ता और भविष्य की योजनाओं को देख कर इस परिषद् से ठोस कार्य की आशा होती है । विशेषतः डा० अल्टेकर महोदय की देख-रेख में स्टैंडर्ड वर्क्स ऑफ रिफरेंस तैयार करने का कार्य बहुत-कुछ आगे बढ़ा है । आगामी वर्ष में बयाना गुप्त मुद्रा-निधि पर ग्रन्थ प्रकाशित हो जाने की आशा है जिसके लिए भरतपुराधीश महाराजा सवाई श्री ब्रजेन्द्र सिंह ने आरम्भ से ही उत्साह प्रदर्शित करते हुए आर्थिक सहायता प्रदान की है । मुद्रा-परिषद् के कार्य में प्रत्येक प्रान्त की मुद्राओं का कार्य सम्मिलित है, इसीलिए प्रादेशिक सरकारों ने परिषद् को आर्थिक सहायता प्रदान करने की कृपा की है । आगामी वर्षों में मुद्रा-परिषद् को अपने कार्य का और अधिक प्रसार करना चाहिए और, जैसा मैं आरम्भ में कह चुका हूँ, इस काम में अलग-अलग मुद्राओं के विशेषज्ञों की आवश्यकता है जिसके लिए नये-नये विद्वानों का मैं परिषद् की ओर से आवाहन करता हूँ ।

आधुनिक साहित्य और मनोविकृति

—प्रभाकर माचवे

आधुनिक कला में असुन्दर का चित्रण बढ़ता जा रहा है; उसी प्रकार आधुनिक साहित्य में विद्रूप और जुगुप्सित, बीभत्स और विकृत रूपों का निरूपण भी एक समस्या बन गयी है। आलोचकों के लिए यह एक चिन्ता का विषय है। क्या नए साहित्य में ही मनोविकृतियों का चित्रण बढ़ता जा रहा है; या प्राचीनकाल से बीभत्स और अरम्य (ग्रोटेस्क) के प्रति मनुष्य का आकर्षण इसी प्रकार विद्यमान है? यदि यह चित्रण एक नई वस्तु है, तो वह क्यों इतनी बढ़ रही है और इन मनोविकृतियों के चित्रण का परिणाम क्या हितावह है? और यदि यह विकृतियाँ अनिष्ट हैं, तो इनके निराकरण का क्या उपाय है?

रोदाँ और एप्स्टाइन का शिल्प, पिकासो और पॉलक्ली के चित्र, जौइस और सार्त्र के उपन्यास, हेनरीमूर का अर्ध-शिल्प और ऐसे कई दुर्बोध आधुनिक कला के उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि कला में इस प्रकार की विचित्र, चौंकाने वाली, असंतुलित रचना एक विश्वव्यापी समस्या है। और भारतीय साहित्य कला में तो प्रगतिशील चिंताधारा की नवीन उद्भावना के साथ-साथ इधर सन् ३४ के बाद और उससे अधिक गत महायुद्ध के बाद इस समस्या ने बहुत तीव्र रूप धारण किया है। यह कला जान-बूझ कर अब तक अछूते और अस्पृश्य माने जाने वाले विषय चुनती और छूती है। उसका कहना है कि अवचेतन का यथार्थ-चित्रण हमें ऐसी ही दुस्स्वप्न-समा कला की ओर ले जाएगा। इन सब कलाकृतियों की एक विशेषता यह भी है कि जन-साधारण के लिए वे एकदम दुर्ज्ञेय और कठिन, पहेली-बुझौवल के समान हैं।

एक तो पुराण-पन्थियों का, सनातन आलोचकों का, दल है, जो इस सारे अघटित व्यापार को सहज ही एक वाक्य से टाल देना चाहेगा कि यह सब तो कला ही नहीं, साहित्य ही नहीं। इस प्रकार कविता में एज़रा पाउंड और नरूदा के समान 'व्यक्तिगत कल्पना चित्रों' के माध्यम से विचार करना अकलात्मक है, क्योंकि उसमें प्रेषणीयता का नितान्त अभाव है। परन्तु जो विख्यात शिल्पी-चित्रकार-कवि-उपन्यासकार आदि नाम मैंने ऊपर गिनाए हैं; उनकी कलाकृतियाँ हीन कोटि की, केवल प्रयोग के लिए प्रयोग वाली अधकचरी, मानसिक अजीर्ण की द्योतक वस्तुएँ नहीं—परन्तु युगान्तरकारी रचनाएँ हैं। अतः इस समस्या को और भी मूलतः पकड़ना होगा।

क्या मनुष्य के मन में जैसे सुन्दर और भव्य, रम्य और कोमल-मधुर के लिए स्वाभाविक आकर्षण है; वैसे असुन्दर और घिनौने, विद्रूप और घृण्य के प्रति भी कोई प्रबल अकर्षण है? मनोवैज्ञानिक इस बात का समर्थन करते हैं। प्रेम और घृणा वस्तुतः उसी एक मनोव्यापार के दो पहलू मात्र हैं। प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों में विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में बीभत्स-रस की मीमांसा इस प्रकार की है:—

चित्तद्रवी भावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।
संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिक क्रमात्॥
मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विता
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणता गता.॥
अविवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा।
ओज-श्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते॥

वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु
वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ॥

[अष्टमः परिच्छेदः श्लोक २ से ५ तक]

इसका अर्थ है—चित्त का द्रुतिस्वरूप आह्लाद—जिसमें अंतःकरण द्रुत हो जाए ऐसा आनन्द विशेष, माधुर्य कहाता है। यह जो किसी ने कहा है कि माधुर्य द्रुति का कारण है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि द्रवीभाव या द्रुति आस्वाद स्वरूप आह्लाद से अभिन्न होने के कारण कार्य नहीं है, आस्वाद या आह्लाद रस के पर्याय हैं। द्रुति रस का ही स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं है। और रस कार्य नहीं, अतएव द्रुति भी कार्य नहीं। जब द्रुति कार्य ही नहीं, तो उसका कारण कैसा? द्रुति का लक्षण कहते हैं रस की भावना के समय चित्त की चार दशायें होती हैं—काठिन्य, दीप्तत्व, विक्षेप और द्रुति। किसी प्रकार का आवेशन होने पर अनाविष्ट चित्त की स्वभाव सिद्ध 'कठिनता' वीर आदि रसों में होती है। एवं क्रोध और अनुतस्य आदि के कारण चित्त का 'दीप्तत्व' रौद्र आदि रसों में होता है। विस्मय और हास आदि उपाधियों से चित्त का 'विक्षेप' अद्भुत और हास्यादि रसों में होता है। इन तीनों दशाओं-काठिन्य, दीप्तत्व और विक्षेप के न होने पर रति आदि के स्वरूप से अनुगत सहृदयों के हृदय का पिघलना 'द्रुति' कहलाता है। सम्भोग-श्रृंगार, करुण, विप्रलम्भ श्रृंगार और शान्त रसों में क्रम से माधुर्य बढ़ा हुआ रहता है। शान्त रस में सबसे अधिक माधुर्य होता है। ट, ठ, ड, ढ, से भिन्न वर्ण आदि में वर्गों के अन्तिम वर्णों (ञ म ङ ण न) से युक्त होने पर माधुर्य के व्यंजक होते हैं। समास-रहित अथवा अल्पवृत्ति अर्थात् छोटे छोटे समासों वाली मधुर रचना भी माधुर्य की व्यंजक होती है। चित्त का विस्तार स्वरूप दीप्तत्व 'ओज' कहाता है। वीर, वीभत्स और रौद्र रसों में क्रम से इसकी अधिकता होती है। वर्णों के पहिले अक्षर के साथ मिला हुआ उसी वर्ग का दूसरा अक्षर और तीसरे के साथ मिला हुआ उसी का अगला चौथा अक्षर तथा ऊपर या नीचे अथवा दोनों ओर रेफ से युक्त अक्षर एवं ट ठ ड ढ श और ष ये सब ओज के व्यंजक होते हैं। इसी प्रकार लम्बे-लम्बे समास और उद्धत रचना ओज का व्यंजन करती है—जैसे चञ्चद्भुजेत्यादि! विश्वनाथ ने आगे 'प्रसाद' की व्याख्या की है।

वीभत्स रस के सम्बन्ध में विश्वनाथ की शब्द वर्ण वाली बात को पूर्णतः सही न भी मानें—क्योंकि शब्दों की अभिधाओं में तबसे अब तक बहुत परिवर्तन और विकास हुआ है—तो भी यह वाक्य महत्त्वपूर्ण है कि वीर से वीभत्स में और वीभत्स से रौद्र रस में क्रमशः दीप्तत्व का आधिक्य होता जाता है।

पहले वीर-रस को ही लें। मराठी के कवि-आलोचक 'अनिल' ने संस्कृत में 'प्रक्षोभरस-स्थापनम्' नामक निबन्ध में प्रतिपादित किया है कि आधुनिक काल में से राष्ट्रीय कविता अथवा मानवतावादी (विश्व-बंधुता वाली) कविता में दीनों के प्रति करुणा तो होती है, उस दैन्य के कारणों के प्रति 'हुंकार' भी होती है, परंतु पूर्व सूरियों की बतायी हुई 'कार्यारंभेषु संरंभः स्थवान् उत्साह उच्यते' वाली जिगीषा या उत्साह उसमें नहीं होता। यदि वीर रसका स्थायी भाव अमर्ष मान लें, यानी तितीक्षासाहित्य मान लें, तो भी यह भाव-दशा मात्र होगी, रस-दशा नहीं। अतः 'अनिल' के मतसे मानवता पर होने वाले अन्यायय आक्रमण की, दलितों के प्रति छल की जो तीव्र अनुभूति होती है, इससे मन में संवेग स्थायी भाव निर्माण होकर प्रक्षोभ रस निर्मित होता है।

यह नया रस छोड़ भी दें तो भी आधुनिकतम कविता या कला के रसास्वाद में कटुतिक्त जो अनुभूति होती है, उसे क्या वीभत्स रस में डालें? ओजगुण यदि उसे मानें तो उसमें आवेश, ज़ोर, सामर्थ्य होना चाहिए। परन्तु कड़वी कविता पढ़ कर

मनस्त्रास होता है, आवेश नहीं उत्पन्न होता। ओजस् की व्याख्या उच्चारण और अर्थ-दृष्टि से कठिन, समास-प्रचुर रचना मानी गयी है। वामन, भोज और जगन्नाथ ने कठिनतामयी रचना को 'गाढ रचना' भी कहा है। भोज ने तो ओज और और्जित्य में भेद किया है। ओज समास-प्रचुर रचना से निर्मित होता है तो और्जित्य गाढ रचना से। मम्मट भी ओज के पीछे मन की एक प्रकार की व्याकुलता बताते हैं। जैसे—'घटः पटु इतीतरे पटु रटन्तु वाक्पाटवात्' रचना है। जगन्नाथ ने अर्थप्रौढि को ओज कहा है और उसका लक्षण उदारता अथवा अग्रामता बताया है। वामन ने रचना की विकटता को उदारता कहा है। परन्तु इस उदारता का जोड़ इस नवीन, असुन्दर का जान-बूझ कर निरूपण करने वाली अद्भुत रचना से कैसे लगाया जाए ?

इसके दो-तीन कारण बताये जाते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि रचनाओं में कठिनता या दुरूहता निरी उदारता के कारण नहीं, अद्भुत रस की या बीभत्स रस की उद्भावना के कारण नहीं होती; अपितु सत्य के नग्न, बेमुरौअत, सीधे-सच्चे चित्रण के कारण, सत्य के दबाव के कारण, the truth, bare truth, nothing but the truth की व्यंजना के कारण ऐसा असंतुलन होता है। क्षेमेंद्र ने औचित्यविचारचर्चा में तीसरी कारिका में लिखा है कि:—

> काव्ये हृदयसंपादि सत्यप्रत्ययनिश्चयात्
> तत्त्वोचिताभिधानेन यात्युपादेयतां कवेः।

अर्थात्, सत्यप्रत्यय आ रहा है ऐसा निश्चय हो सके तो काव्य हृदय को जँचता है। उसमें होने वाले वास्तव दर्शन से ही कवि ऐसा लेखन करें। वही इष्ट है।

इस भूमिका में मैंने संक्षेप में बताया कि आज के साहित्य और कला में कुछ ऐसा ऊबड़-खाबड़, विचित्र-अजीब, नया और असहनीय-सा उभरता चला आ रहा है जिसे हम संक्षेप में मनोविकृति कहें। उसी के रूपों और कारणों और यथासंभव निराकरण के उपायों की चर्चा हम यहाँ करना चाहते हैं।

मैं कुछ नमूने लेकर चलता हूँ। अपने ही एक कवितानुमा सॉनेट से आरंभ करता हूँ, जिससे स्थिति की कल्पना की जा सकती है :—

> जीवन में आ गयी बहुत खोखली शून्यता,
> एक अपूरणीय-सा फैला है अभाव।
> टूट रही है सब रसज्ञता, अहम्मन्यता,
> छितर गया है रसोद्रेक का ही स्वभाव।
> यह क्यों है, इसकी चर्चा भी हमको रुचती नहीं,
> और हम सब भेड़िया-धसान बने जाते हैं।
> एक अजीरन-सा युग में छाया है, बातें पचती नहीं,
> व्यर्थ सभी जो बात-बात पर तने-तने जाते हैं।
> सब कुछ पहिले का मिटता-सा, खंडित, जर्जर, रोग-ग्रस्त है;
> अस्त-व्यस्त है साज, रागिनी बेठाठा है;
> निकल भागता जीवन का कैदी पस्ती से खा शिकस्त है,
> मानो पहरेदारों ने कुन्दे से झपट-डपट डाँटा है।
> जीवन का बौना, घिघियाता, बहरा, पंगु, घिनौना, गन्दा,
> और कलाकारों का उससे बचते रहने का है धन्धा।

तो एक पक्ष उन कलाकारों का है जो ऐसी सब बुराइयों से बचते रहते हैं और गालिब के समान कहते हैं —

> किस्मत बुरी सही पै तबीयत बुरी नहीं,
> है शुक्र, की जगा के शिकायत नहीं मुझे !

दूसरा पक्ष उस सारी बुराई से भागता नहीं मगर उसका वर्णन करने जाता है और उसी में जैसे डूब-सा जाता है, खो जाता है, एज़रा पाउंड अपने नवीन कविता-संग्रह 'पिसान कँटोज़' में कहते हैं, जिसकी प्रशंसा टी. एस. इलियट ने 'वाणी की नयी प्रखरता' कह कर की है—

The ant's a centaur in his
 dragon world
Pull down thy vanity, it is not
 man
Made courage, or made order,
 or made grace,
Pull down thy vanity, I say
 pull down...
Thou art a beaten dog beneath
 the hail
A swollen magpie in a fitful
 sun,
Half black, half white
Nor Knowst' ou wing from tail
Pull down thy vanity
How mean thy hates
Fostered in falsity
Pull down thy vanity

मानवी अहन्ता पर पाउंड की यह चोट ही नहीं, वरन अधुना अंग्रेजी साहित्य का सारा स्वर ही गत महायुद्ध के बाद बहुत निराशामय और कुंठा-पूर्ण हो गया है। जीवन का अर्थ जैसे खो गया है। चारों ओर घोर दुराशा की विभीषिका के सिवा कुछ नहीं। 'अस्तित्ववाद' इसी आत्यन्तिक गतिरोध से उपजा दर्शन है। ज्यों पोल सार्त्र के 'लानासी' नामक फ्रान्सीसी उपन्यास का नायक आंत्वान रोकेंतान कहता है—'यदि कोई मुझसे पूछता कि अस्तित्व क्या था तो मैंने उत्तर दिया होता कि वह कुछ नहीं, सिर्फ एक शून्य, खाली खोखला रूप है जो कि बाह्य वस्तुओं का रूप न बदल कर ज्यों का त्यों रखा गया है।' ...या 'वह आदमी और इसकी बड़ी-बड़ी नाक के नथुने नोंक के साथ ऐसे अचानक जान पड़ते हैं मानो वे एक पूरे कुनबे को हवा पम्प करके दे सकते हैं। यही कुनबा उसका आधा चेहरा खा गया है।'...या 'पेड़ तैर चले। ऊपर आसमान की तरफ ? या शायद गिर पड़े एकदम। किसी भी क्षण इन वृक्षों के तने गिर पड़ेंगे। वे सब सूख गये। ठिठुर कर गिर पड़े, जैसे थके हुए जादू के डंडे हों। वे सब बिखर कर ज़मीन पर एक काले, मुलायम, जुड़े हुए ढेर के रूप में हो गये।'

यह केवल सार्त्र के उपन्यास में ही नहीं, सर्वत्र नवीन साहित्य में दिखाई देने वाली कुण्ठा है। निरालाजी के 'खजोहरा' और 'रानी-कानी' या 'कुकुरमुत्ता' जैसी कविताएँ तथा 'नये पत्ते' के कई प्रयोग इस अतिवास्तववादी चेतना के प्रमाण हैं। अतिवास्तववाद केवल चित्रकला और शिल्प तक ही सीमित न रह कर साहित्य के क्षेत्र में भी उतर आया है। वाइन ने अपने 'द एस्थेटिक आबजेक्ट' में कहा है कि—Our age is rich in the profusion of the grotesque. The age is replete with life, but it may be that it is the super-abundance of life with a dearth of form that is characteristic of it.

कुछ इसी तरह की चीज़ लुई मैकनीस ने अपनी कविताओं में व्यक्त की है—

Fruits and greens are insufficient for health,
Culture is limited by lack
 of wealth,
The tourist sights have nothing
 like stonehenge,
The literature is all about
 revenge.
They have their faults like all
 creators, like
The hero who must die, or like
 the artist who

Himself is like a person with
 one hand
Working it into a glove...

इस प्रकार की कविता में प्रेम और जुगुप्सा की अभिव्यंजना इसी बात का प्रमाण है कि कवि की सूक्ष्म संवेदनशील आत्मा पर कहीं चोट हुई है और वह तिलमिला उठा है।

अतिवास्तव-वाद

अभी ऊपर मैंने जो चर्चा की उसमें सुररियलिज्म (अतिवास्तववाद) और अस्तित्ववाद (एग्जिस्टेंशियलिज्म) की चर्चा आयी है, जिसका विस्तृत विवेचन आवश्यक है। सुररियलिज्म चित्रकला और शिल्पकला की एक शैली-विशेष है, जिसमें अचेतन मन की सारी कुंठाओं को व्यक्त किया जाता है। इसके सबसे अच्छे आलोचक और टीकाकार श्री हर्बर्ट रीड के 'मीनिंग आफ़ आर्ट' और 'आर्ट नाउ' से इस विषय पर कुछ अंश सुनिए—

सुररियलिज्म समस्त रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह का स्वर उठाने वाला आन्दोलन है। अतः उसका बहुत कड़ा विरोध भी होता है। शास्त्रीय आलोचक (academic circles) तो उसे एक तरह का पागलपन या सनकीपन कह कर टाल देते हैं। पर हम इसे मैक्स अर्न्स्ट और साल्वाडोर डाली के चित्रों से समझने का यत्न करें। मैक्स अर्न्स्ट ने अचेतन मन के प्रतीकों को चित्रों में व्यक्त करने का यत्न किया है। जैसे अलजब्रा में 'क्ष' एक अज्ञेय परिमाण होता है, वैसे ही सुररियलिज्म चित्रकला का 'क्ष' है परन्तु इतना ही कहना काफ़ी नहीं है। प्रतीकों की संयोजना दो तरह से होती है—मूर्त और अमूर्त। सुररियलिज्म दोनों को मिला देता है। स्वप्न-मीमांसा के मनोविज्ञान से सुररियलिज्म को बहुत स्फूर्ति मिली है। कुछ लोग तो इसी कारण से मैक्स अर्न्स्ट के चित्रों को चित्र कहते ही नहीं। उनके मत से यह तो शुद्ध मनोविज्ञान है या साहित्य; परन्तु चित्र-कला नहीं।

जब इस प्रकार के संकेतों के आयोजन में मानवोपरि तत्त्वों का भी सहारा लिया जाता है तब साल्वाडोर डाली की कला अवतरित होती है। मध्ययुगीन धार्मिक चित्रकार बोश ने स्वर्ग, मृत्युलोक और नरक के तीन चित्र बनाये हैं, जिनमें से कुछ के विवरण सुनिए—ये एक गिर्जे की प्रार्थना-पीठिका के मंडन के लिए बनाये गये थे। मृत्युलोक का चित्रण इस प्रकार है—एक नदी-किनारा है। नदी के पानी के नीचे एक अंडा है जिसमें से एक गोल खिड़की काट ली गयी है जो कि बाहर एक काँच की नली के रूप में नीचे झुकती है। उसमें से एक आदमी झाँक रहा है और उस नली में घुसने वाले चूहे की ओर घूर रहा है। अंडे के दूसरे छोर एक विचित्र पौधा है जिसका फूल फैल कर एक विचित्र शिराओं वाला बुदबुद बन जाता है, जिसमें एक नग्न प्रेमियों का जोड़ा बैठा है। उस फूल के पास एक प्राणी एक राक्षसकाय उल्लू से आलिंगन कर रहा है। और ऊपर कुछ नग्न आकृतियाँ निराश रूप में प्रचंड कनकौड़ों पर बैठी हैं।

नरक के चित्रण में एक नग्न मानवाकृति एक वीणा पर गरुड़ की तरह फैली है। यह वीणा एक बाँसुरी में से उगी है, जिसमें साँप लिपटा हुआ है और वह साँप अपनी कुंडली में एक नग्न मानव को बाँधे हुए है। ऊपर चौतरे पर एक पक्षी के सिर वाला राक्षस बैठा है जिसके पैर सुराहियों के बने हैं। वह एक मुर्दा खा रहा है, जिससे पक्षी भाग गये हैं। उस चौतरे के नीचे एक बुदबुद है जिसमें से एक मानवाकृति एक गहरे गड्ढे पर आधी झुकी है। एक आदमी एक सूअर का चुम्बन ले रहा है, इतने में एक काल्पनिक कीड़ा आ कर उसे कुतरता है जिसके पैर आदमी की तरह हैं और सिर से एक टूटा हुआ आदमी का पैर लटक रहा है।...

(हमारे यहाँ भी जैन पुराणों में ऐसी कई विचित्र कल्पनाएँ मिल जाएँगी।) साल्वाडोर डाली इसी प्रकार अबुद्धि-संगत प्रतीक-योजना करता है। वह अक्सर लेडी शू में दूध का ग्लास चित्रित करता है।

'आर्ट नाउ' के पाँचवें अध्याय में हर्बर्ट रीड सुररियालिज्म को स्वयंचलनवाद (Automatism) कह कर पिकासो की कला की चर्चा करता है। पिकासो पर एम. जर्वोस पाँच खंडों में एक ग्रन्थ लिख रहे हैं, जिसका यह अंश रीड ने उद्धृत किया है—पिकासो ने अपनी दृष्टि और अपनी कामना (Will) को कभी विरोध में नहीं रखा........ दृष्टि और कामना भिन्न बातें हैं। दूसरे में एक सतत प्रयत्न रहता है; अंतर्ज्ञान अज्ञात में एक साहसपूर्ण उड़ान है। वस्तुओं का सारतत्व, जब तक आत्मानुभूति का तनाव नहीं होता, कोई नहीं ग्रहण कर सकता। पिकासो ने कहा कि मैं दूसरों के लिए देखता हूँ।...पिकासो के प्रेरणा के क्षण गहरी वेदना और आत्मसंयम से भरे होते हैं। उसकी संपूर्ण इच्छा आत्मप्राप्ति है। पिकासो देखता है कि उस पर कई तरह के परत जम गये हैं, जिन्हें वह झाड़ फेंकना चाहता है। वह सब बाधाओं को तोड़ना चाहता है। अतिवास्तववादियों ने युग के सामूहिक अवचेतन की स्थापना को मान कर निरीक्षण के स्थान पर अन्तर्ज्ञान, विश्लेषण के स्थान पर संश्लेषण; वास्तवता के स्थान पर अपरवास्तवता को प्रश्रय दिया है।

जर्वोस के आन्तरिक स्वगत-भाषण की तुलना करके रीड आगे कहते हैं कि साहित्य और कला में आकृति या रूप की कल्पना का पुनर्निरीक्षण आवश्यक है। रोजर फ्राय के 'कलाकार और मनोविश्लेषण' (होगार्थ १९२४) नाम के प्रबंध से ये उद्धरण देते हैं—'प्रतीक दो तरह के होते हैं; एक इंद्रियसंवेद्य, दूसरे अवचेतन पर आधारित। वैज्ञानिक और कलाकार के प्रतीक-संबंधी विचारों में इसीलिए बड़ा अंतर है। जितना ही कलाकार शुद्ध कलाकार होगा—वह प्रतीकों का सहारा छोड़ देगा; क्योंकि कविता जितनी ही अशुद्ध होगी, उतनी ही स्वप्न पर आश्रित होगी।' (in proportion as poetry becomes impure it accepts dreams)

सुररियालिज्म के पूर्व ज्यूरिच में १९१६ में जन्मा और १९२४ में मरा 'दादाइज्म' था। उसी की राख में अतिवास्तववाद का जन्म हुआ। कवि आन्द्रे ब्रेताँ ने उसका उद्घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। उसके अनुसार हमारी साधारण दुनिया से एक और बड़ी दुनिया हमारे अवचेतन मन की है। अतिवास्तववादी यद्यपि लौत्रेआमाँ (Lautreamont) को अपना गुरु मानते हैं; और हेगेल के दर्शन में कुछ अपना समाधान खोजते हैं, फिर भी उसकी प्रेरणा का स्रोत फ्रायड से अधिक संबद्ध है। स्वप्न-चित्रों का आधार दोनों ही लेते हैं। सुररियालिज्म केवल स्वप्न या अचेतन की कला नहीं। वह कोई भी बन्धन नहीं मानती। वह तो अपने भीतर सीधे उतर जाना चाहती है। कल्पना के तुरंगों को स्वच्छन्द छोड़ देने पर, उसके अनुसार अचेतन मन के कई अविजित प्रदेशों पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। यह प्रक्रिया स्वयं चालित है। जो लोग इन नये चित्रों को नहीं समझते उनसे पिकासो ने प्रश्न किया है—हर कोई इन चित्रों का अर्थ पूछता है? आप पक्षियों के गाने का अर्थ क्यों नहीं पूछते? रात और फूल और यह आसपास का सब कुछ समझने का प्रयत्न न करते हुए आप क्यों और कैसे चाहते हैं, कि ये चित्र ही आपकी समझ के विषय हों? जो लोग इन चित्रों को समझाने का यत्न करते हैं, वे अक्सर गलत समझाते हैं।

अस्तित्ववाद

अस्तित्ववाद पर मैं "अभिरुचि" के अगस्त १९४८ के अंक में प्रकाशित अपने मराठी लेख 'सार्त्र व मार्क्स' का अनुवाद यहाँ देना चाहता हूँ—

मई १९४७ के 'डेमॉक्रेटी नॉविले' में सेसील ऑन्द्रांड ने एक लेख में अस्तित्ववाद का सच्चा स्वरूप खोल कर दिखाया है। अस्तित्ववाद, मार्क्सवाद-विरोधी, समाजवाद-विरोधी, जनतंत्र-विरोधी, पुराने आदर्शवाद की पसरी कड़ी में उबाल लाने

वाला व्यक्तिवादी दर्शन है—यह इस लेख में प्रतिपादित किया गया है। "माडर्न क्वार्टर्ली" के शिशिर १९४७ के अंक में कुर्त ब्लाउफ़ॉफ़ ने 'आइडियालोजी एंड रियालिटी' नामक छोटे लेख में, अस्तित्ववाद पर जो कुछ आध्यात्मिक कलई चढ़ी रहती है उसे भी पूरी तरह खोल दिखाया है। यह लेख मैं दो लेखों के आधार पर लिख रहा हूँ।

ज्याँ पोल सार्त्र के ८०० पृष्ठों के 'अस्तित्व और नास्तित्व' (L'etre et le Neant) ग्रंथ में पृष्ट ३५९ पर का यह उद्धरण पढ़िएः इससे उसकी शैली की दुर्बोधता का परिचय होगा —— 'इस आध्यात्मिक प्रश्न की संभवनीयता ज़रा अधिक सूक्ष्मता से देखें। सबसे पहिले यह जो कुछ दिखाई देता है, वह ऐसा है, कि दूसरे के लिए अस्तित्व नाम की जो चीज़ जान पड़ती है वह वस्तुतः 'स्व' के लिए जीने की तीसरी कैवल्य-स्थिति है। पहिली कैवल्य-स्थिति, यानी 'स्व-के-लिए' जीने की मनःस्थिति का अनस्तित्व के ढंग पर घटित अस्तित्व की ओर त्रिगुणात्मक प्रक्षेपण। इस प्रक्रिया में से पहिला प्रस्फोट दिखाई देता है, जिससे 'स्व के-लिए' जीना स्वत्व-प्राप्ति करना है। और 'स्व' की घटना से सुसंगत ऐसी स्वतः अलग होने की क्रिया का अभाव उस स्थान पर व्यक्त होता है।' *

उसके शिष्य भी उसका ग्रन्थ समझते हैं या नहीं, भगवान् जाने!

वी० के० जेरोम ने अपनी 'कल्चर इन दी चेंजिंग वर्ल्ड, ए मार्क्सिस्ट एप्रोच' नामक दिसंबर १९४७ में अमरीका में छपी पुस्तक में "एक मुमूर्षु समाज - व्यवस्था के लिए विचार - प्रणाली' इस शीर्षक के नीचे निम्न-दर्शनों की प्रलोचना की है : (१) अबुद्धिवादी : बर्गसाँ, क्रोचे, ड्युई, श्लेलिंगर स्टाइन्बेक्; (२) वैयर्थ्य के डिंडिम-अस्तित्वादी : सार्त्र, अॅलबर्ट केमस्; (३) मृत्युपूजक दार्शनिक : सरेन्, कीर्कगार्ड, फ्रांज़ काफका और मार्टिन हाइडेगार; (४) श्रद्धापंथीः ईलियट्,जे राल्ड हर्ड्, आल्डस् हक्सले, ईशरवुड्, कार्ल्शिपारो, मॅक्स्वेल अँडर्सन्; (५) राक्षसपूजा और वैश्वानरपंथः एच्. एफ्, नीग्रोविरोधी हॉलिवुड के दिग्दर्शक और चित्रपट-निर्माता, अमरीकी समाचार-पत्र संचालक। जेरोम लिखता है—

"आजकल अमरीकी पराश्रयी (बोर्जुआ) वर्ग एक नया परदेशी 'वाद' उधार लाया है। वह एक रहस्यवादमय भानमती के पिटारे के भाँति वाद है—अस्तित्ववाद। यह आजकल चलने वाला एक साहित्यिक दार्शनिक फैशन है और अबुद्धिवाद की आकाशवाणी है।

"अस्तित्ववाद सर्वोपरि या चरम-परम (ट्रन्सेन्डेन्टल) मानव पर अधिष्ठित है। मनुष्य अपने संकल्प और रुचि के चुनाव में सर्वथा पूर्णतः स्वतंत्र है। 'मनुष्य का अर्थ है स्वातंत्र्य' (मॅन इज़ फ्रीडम) ऐसा ज्याँ पोल् सार्त्र का सूत्र है। मनुष्य स्वयं का जो कुछ बनाएगा उससे परे कुछ है ही नहीं। यह अस्तिवाद का प्रथम सिद्धान्त है। उनकी दृष्टिसे मनुष्य में 'स्व' के प्रति चेतना निर्मित करना, सब जिम्मेदारी 'स्व' पर ही है ऐसा मानना काफ़ी है।"

---

* "Let us examine the possibility of the metaphysical question more closely. What appears first of all is that being-for-others represents the third 'ek-stasy of being-for-oneself. The first 'ek-stasy' in effect, the three-dimensional projection of being-for oneself becomes itself, the tearing away of being-for-oneself from all that it is, in so far as this tearing-away is constitutive of its being......."

"मनुष्य को—यानी जनता को—स्वयं के अस्तित्व के लिए जिम्मेदारी पहचानने के लिए बाध्य करना मार्क्सवादी की दृष्टि से एक सामाजिक आवश्यकता है। परन्तु यह चेतना सिर्फ हवा में जागृत नहीं होती। उसके सामाजिक परिपार्श्व में, ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में यह जागृत मनुष्य अनुभव करता है। स्वतंत्रता आवश्यकता की पहचान मात्र है। मार्क्स के शब्दों में—'मनुष्य इतिहास बनाता है; परन्तु वह इतिहास अपने स्वयं के संपूर्ण कपड़े में से काट कर नहीं निकालता'।

"संक्षेप में, मनुष्य स्वयं निर्माण करने वाला, बनाने वाला है; उसी प्रकार वह निर्मित होने वाला भी है। यही सच्चा एतिहासिक मानव है। सार्त्र का निरा अध्यात्मजीवी मनुष्य सर्वथा मुक्त, पूर्णतः अमर्यादित (इनडिटर्मिनेट) है। ऐसे आदमी की छलाँग उसे स्वतन्त्रता के उच्च स्तर में नहीं उड़ा ले जाती; परन्तु वह दासता की अँधेरी गुहा में डुबा देने वाली है। मनुष्य को संकल्प की स्वतन्त्रता का सब्ज बाग दिखा कर उसे प्रत्यक्ष अस्तित्व में प्रचलित समाजव्यवस्था का जूआं मनवाने पर बाध्य करना ही उसका ध्येय है; क्योंकि सब पाप जैसे अस्तित्ववादी समझते हैं उस प्रकार से वैयक्तिक ही हों और सामाजिक पाप न-ही हों, तो मनुष्य के दुःखों की सामाजिक जिम्मेदारी, सामाजिक कारण-परम्परा पूर्णतः नष्ट हो जाती है।

"अस्तित्ववाद के इस परम और सर्वोपरि व्यक्तिवाद में कार्य-कारण-परंपरा को स्थान नहीं है। 'विज्ञान में कारण-विचार है न ?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सार्त्र कहता है—'बिल्कुल नहीं। विज्ञान तो अतीन्द्रिय होते हैं। वे भाववाचक तत्त्वों के अन्तर का अध्ययन करते हैं। उनका प्रत्यक्ष वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं *।' इस प्रकार कार्य-कारण-परंपरा का त्याग कर के अस्तित्ववाद सब प्रकार-की सुसंगति, सम्बन्ध, परस्पराश्रय, परस्पर-परिणाम को नष्ट करता है। इस प्रकार प्रकृति की मानव पर और मानव की प्रकृति पर होने वाली परस्परावलंबी प्रक्रिया की ओर से पीठ फेर कर, सार्त्र आदमी की क्रियाओं का उसकी चेतना पर होने वाला परिणाम अमान्य करता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन के द्वार बंद करके अस्तित्ववाद गूढ गुंजन, रहस्यवाद, अध्यात्मप्रवणता और उसके राजनैतिक पर्याय प्रतिक्रियावाद को पास बुलाता है।

"सार्त्र का यह एकाकी आदमी कार्य-कारणों के, समाज-परिस्थिति के, इतिहास-नियमों से ऊपर उठा हुआ यह आदमी, सिर्फ पाप की छाया में घूमता रहता है। यह असामाजिक, चिरव्यथित, आत्मविश्वास-शून्य और तिरस्कार से भरा हुआ प्राणी है। सार्त्र कहता है—'मनुष्य का अर्थ ही है व्यथा... मनुष्य का अर्थ ही है एकाकीपन।' 'बाहर जाने के लिए राह नहीं' नामक नाटक में उसने एक अर्थ-पूर्ण वाक्य लिखा है—'और सब कुछ नरक है!'

"सार्त्र को १९४७ में अमरीकन नाट्य-परीक्षक-मंडलने सर्वोत्तम विदेशी नाटककार का इनाम दिया। उसने फ्रान्स के लड़ने वाले लोगों से मैत्री करके थोड़े से शिष्य भी जुटा लिये और अपने आसपास क्रांतिकारकता का आभा-वलय भी फैला लिया है। परन्तु वस्तुतः अत्यन्त व्यक्तिवादी, टुटपुँजिये अराजकवाद का आत्मसमाधान सिर्फ उसमें से मिलता है। उसका शिष्य आल्बर्ट केमस कहता है—

'आत्महत्या, यही एकमात्र गंभीर दार्शनिक समस्या है।'

"इस अबुद्धिवाद के उत्तम नमूने काफ्का के उपन्यास में, किर्केगार्द की धार्मिक आत्म-स्वीकृतियों और मार्टिन हाइडेगार के लेखों में व्यक्त होते हैं। काफ्का कहता है—'सिर्फ आध्यात्मिक जगत् ही सच्चा

* Absolutely not. The sciences are abstract, they study the variations of equally abstract factors and not real causality.

है। जिसे हम भौतिक जगत् कहते हैं वह आध्यत्मिक दृष्टि से पाप है, इसीलिए सच्चे कैवल्य-ज्ञान की प्रथम सूचना मृत्यु के प्रति कामना पैदा होना है'...

किर्केगार्द के अनुसार,

'आत्म-पर बनना ही यदि जीवन-कार्य है तो व्यक्ति के लिए मृत्यु का विचार निरी सामान्य कल्पना न हो कर वस्तुतः वही कर्तव्य-कर्म है।'

"हाइडेगार कहता है–'मनुष्यप्राणी के अंतः-करण में से सतत इस व्यथा का कंपन चल रहा है...इस व्यथा का अभाव ही मनुष्य के मौलिक शून्यतत्त्व का आविष्कार है।'

"इस प्रकार अस्तित्ववादी अपनी साहित्यिक-सांस्कृतिक परंपरा के समृद्ध तत्त्वों को भी अमान्य करते हैं। वाई-फ्रिद के 'सोवियत्स्काया लित्राल्युरा' मासिक के मूल रूसी लेख का एम्. एन्. राय के द्वारा किया हुआ एक अनुवाद 'माडर्न क्वार्टर्ली' के १९४७ के ग्रीष्म अंक में प्रकाशित हुआ है–'A Philosophy of Unbelief and Indifference: Jean Paul Sartre and Contemporary Bourgeois Individualism' नाम से। उसमें अस्तित्व-वादियों की ओर से माने जाने वाले इस बड़े श्रेय का खंडन किया गया है कि अस्तित्ववादियों ने आध्यात्मिक उपन्यास साहित्य में रूढ़ किया। सार्त्र की साहित्यिक कृतियाँ देखिए। सार्त्र की पहली किताब 'दीवार' (एक कहानी-संग्रह) दूसरे महायुद्ध से पहिले प्रकाशित हुई। उसके बाद 'नॉशीया' या 'मितली' नामक उपन्यास में उसने जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। उसके अनुसार जीवन अर्थ-शून्य, फीका, उबा देने वाला, सिर्फ उगते जाने वाला घृणास्पद कुछ तो भी, अविवेकी और निर्मम नियति द्वारा आदमी पर लादी गयी चीज़ है। पश्चिमी साहित्य में यह नयी बात नहीं। आंद्रे मालरौं, आंद्रे ज़ीद, स्ट्रिंडबर्ग के पात्रों के और जेम्स जॉइस्, डॉस पासॉस्, ज्यूल्स रोमन्स इत्यादि के नमूने की प्रति-कृतियाँ सार्त्र में सर्वत्र मिलती हैं। सार्त्र के गुरु हैं हाइडेगार और कीर्केगार्द। १९१६ में प्रकाशित रोनाल्ड लैथैम नाम के अंग्रेज लेखक की 'इन सर्च आफ सिविलिजेशन' नाम की किताब में अस्तित्ववाद बीज मिलते हैं।

"इन सब के अनुसार मानव अपूर्ण है। सिर्फ़ कुछ अस्तित्ववाद और व्यक्तिवाद के नेता अपवाद हैं। सारी मानव-जाति आज असंतुष्ट, अपनी ही स्वयं की परस्पर-विरोधी वासनाओं और कामनाओं के भँवर में पड़ी हुई, विसंगत और व्यक्तित्व-शून्य बनी है। इसलिए मनुष्य प्रकृति की एक बड़ी भारी भूल है। दोष पूँजीवादी समाज-व्यवस्था का नहीं। इस अप्राकृतिक स्वभाव का है। इसलिए कटु सत्य मानवी अपूर्णता का है। यही कटु सत्य लैथम जैसे अंग्रेजी इतिहासकार, ब्रेटॉन जैसे त्रात्स्कीवादी सररिअलिस्ट और नीत्सेपंथी लोग मानते आ रहे हैं। मनुष्य के भविष्य के विषय में जो निराश हैं, वे ही प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति से भागना चाहते हैं, और वही सार्त्र के जाल में अटकते हैं। उनके मत से मनुष्य ऐसा ही अपूर्ण रहेगा और उसे निरा अस्तित्व प्राप्त होगा।

"ऊपर-ऊपर देखने वालों को सार्त्र का सूत्र, 'मनुष्य जो कुछ अपने आप को बनाये, वही है' (Man is only what he makes of himself) बड़ा मीठा जान पड़ता है। परन्तु वस्तुतः सार्त्र आज के जीवन की विषमता, अन्याय और दुःख के कारणों को एक बना देता है, साफ़ दृष्टि को धुँधला बनाना चाहता है उसके अनुसार नियति अपरिवर्तनीय है। सार्त्र के Reprieve नामक उपन्यास में मनुष्य को डराने वाली यह नियति युद्ध के भय के रूप में अवतरित हुई है।

"सार्त्र को सामाजिक घटना से, व्यक्ति की बेकारी या रोजगार से कोई मतलब नहीं। वह

केवल 'शापित मानव' के अस्तित्व की मर्यादाओं का विचार करता है। उसके शब्दों में, 'मनुष्य एक अविचारी नियति के कारावास में आबद्ध है ।...... यही अन्त में जान पड़ा कि मनुष्य सर्वथा एकाकी हुआ कि उसे व्यक्ति-स्वातंत्र्य मिल जाता है। दस्ताए-वस्की ने कहा—परमात्मा न होता तो सब कुछ चल जाता। सार्त्र जैसे अस्तित्ववादी इसी छोर से शुरू करते हैं—'परमात्मा नहीं है। अब सब कुछ चल सकता है!' परन्तु इस 'सब कुछ' की भी कुछ मर्यादाएँ हैं या नहीं? अकेला वेकार आदमी कितना भी सिर पचाए तो भी मिल-मालिक नहीं बन जा सकता, और रेलगाड़ी के आगे सो जाने से भी वेकारी की समस्या हल नहीं होती।

"अस्तित्ववादियों का प्रगति पर विश्वास नहीं। उनके मत से सब कुछ ज्यों-का-त्यों रहता है। अच्छे-बुरे का निर्याणक व्यक्ति-मन है और उसे चुनने वाला क्षण है। इस प्रकार अस्तित्ववाद क्षणिकवाद और संदेहवाद का विचित्र मिश्रण है। यदि व्यक्ति की उस क्षण की चुनी हुई बात निष्पाप ही होती है तो फिर परिताप क्यों होता है? दुःख का मूल क्या? सार्त्र के मत से 'मानवी अपूर्णता' उसका कारण है। वह निष्काम कर्मयोग के समान 'to act without hope of future' की चर्चा करता है और अनासक्त या 'स्टोइक' वन कर मार्क्स की ओर हिकरात से देखकर कहता है—'उँह, यह तो स्वयम् की शक्ति बढ़ाने का व्यर्थ का झमेला है।'

"लेनिन ने १९३६ में दि प्रालितेरियन रिवोल्यूशन में कहा था—"अराजकवाद पराश्रयी व्यक्तिवाद का ही दूसरा रूप है। व्यक्तिवाद ही अराजवादी दृष्टिकोण का मूलाधार है...अराजकवाद निराशा का परिणाम है। ❀

"सार्त्र की उपन्यासत्रयी के प्रथम खंड 'The Age of Reason' का मुख्य पात्र दर्शन का मैथ्यू दलार्न है, जिसका प्रिय व्यवसाय है बालू के प्राध्यापक किले तैयार करना और उन्हें फिर मिटा देना। इस किले की स्तुति वह 'वाह बहुत अच्छे! हवा से आवृत, निराधार और फिर गिरेगा भी नहीं!' कह कर करता है और फिर वह अपने ही हाथों तोड़ भी देता है। इस रचना से वह शेर याद आता है—

बना-बना के जो दुनिया मिटायी जाती है।
ज़रूर कोई कमी है जो पायी जाती है॥

"यही मैथ्यू आगे चल कर स्पेन के युद्ध को 'आशा-शून्य संघर्ष' कह कर युद्ध के प्रति अपना प्रेम व्यक्त करता है। अस्तित्ववाद के ट्राय के लकड़ी के घोडे के पेट में बहुत-सा प्रतिक्रियावाद छिपा हुआ सार्त्र के 'Morts Sans Sepulture' नामक नाटक पर पेरिस में रोक लगा दी गयी। लंदन के लिरिक थिएटर में उसी नाटक का 'Men without Shadows' नामक अनुवाद जुलाई १९४७ में दिखलाया गया। इस नाटक के पात्र शांति से अन्याय सहन करते हैं; मौन से प्रतिकार करते हैं—और वह भी फ्रांस की स्वतंत्रता के लिए नहीं,—व्यक्ति की स्वाधीनता के लिए।

"ए-कार्नु ने 'मार्क्सवाद और साहित्यिक सडाँध' नामक प्रबंध में 'अस्तित्ववाद की जड़ों' पर चर्चा की है और रेनर मारिया रिलके की भावुक, दुर्बल, रुग्ण, प्रेम-निराश, दुःखान्त कविताओं को इस नये दर्शन का आदिसूत्र कहा है। 'The Note-book of Malte Laurids Brigge' ग्रन्थ में आत्महत्या की कामना करने वाला नायक पेरिस शहर में जाता है—वहाँ एकाकी, दुःख से पीड़ित रहते समय वह अपना चेहरा साफ़ रखने में, नख वगैरह काट कर व्यवस्थित रखने में संतोष प्राप्त करता है। रिलके के युवक नायक का, यह अपमानवी आत्मिक विद्रोह स्वप्नसृष्टि में खो

❀ "Anarchism is bourgeois individualism turned inside out......Individualism is the basis of the whole outlook of anarchism......Anarchism is the child of despair."

जाता है और मृत्यु-पूजा ही उसका अंतिम धर्म बन जाता है। कार्नु के मत से टामस मान के बुडेनब्रूकस विश्लेषण में भी सामाजिक कारणमीमांसा छोड़ कर उसी कुंठा का वह स्वयम् शिकार बना जान पड़ता है।"

अपने मूल मराठी लेख का केवल एक अंश मैंने सुनाया। इससे अस्तित्ववाद के एक पक्ष का काफी दिग्दर्शन होगा ऐसी आशा है।

क्या कवियों में ही कुछ दोष है जो उनकी रचनाएँ गद्यप्राय हो गयी हैं? क्षेमेंद्र का यह उद्धरण आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'आजकल के छायावादी कवि और कविता' में बहुत वर्षों पूर्व उद्धृत किया था—

यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः
तर्केण दग्धोऽनलधूमिना वाप्यविद्धकर्णः सुकविप्रबन्धैः।
न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्याच्छिक्षा विशेषैरपि सुप्रयुक्तैः
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि सदर्शितं पश्यति नार्कमन्धः॥

अर्थात्—जिसका हृदय स्वभाव से ही पत्थर के समान है, जो जन्मरोगी है, व्याकरण 'घोकते-घोकते' जिसकी बुद्धि जड हो गयी है, घट-पट और अग्नि-धूम से सम्बन्ध रखने वाली फक्किका रटते-रटते जिसकी मानसिक सरसता दग्ध-सी हो गयी है, महाकवियों की सुंदर कविताओं का श्रवण भी जिसके कानों को अच्छा नहीं लगता, उसे आप चाहे जितनी शिक्षा दें और चाहे जितना अभ्यास कराएँ, वह कभी कवि नहीं हो सकता। जैसे सिखाने से भी गदहा गा नहीं सकता या अन्धा सूर्यबिंब नहीं देख सकता।

एक दल उन लोगों का है जो सारा दोष वर्तमान युग पर ही मढ़ते हैं। मराठी उपन्यास 'डाकबंगला' में एक तरुणी अपने चार स्खलनों की कहानी सुनाती है। उपन्यास की भूमिका में लिखा गया है कि जिन्हें पुस्तक में अश्लीलता जान पड़े, उन्हें मैं बता दूँ कि आज का युग ही अश्लील है। प्रगतिवादी आलोचक कुछ इसी प्रकार का तर्क प्रयुक्त कर कहते हैं कि आज का युग ही ह्रास और सड़ाँध का (decadence) का युग है। अतः जो कुछ इस में लिखा या कहा जाएगा उस मर्ज़ से जरूर अछूता नहीं रह सकता।

तात्पर्य, आज की साहित्य-कला में—दुरूहता, दुर्बोधता; ग्राम्य तथा अशिष्ट विषयों की चर्चा; मनोविकृतिपूर्ण चरित्रों का चित्रण; यौन तथा अन्य मनोविकारों से ग्रस्त मानवों के संज्ञा-प्रवाह का यथातथ्य वर्णन; कुंठा और त्रास; मनोदौर्बल्य और हताशता; एतादृश्यत्व से समझौता अथवा आत्म-हन्तामयी खीझ; बौखलाहट और एक ही डंडे से सबको पीटने की पाशवी वृत्ति; अवर्ण्य की अवतारणा और जुगुप्सित का जान-बूझ कर वर्णन बराबर बढ़ता जा रहा है।

इसके कुछ कारण जो आलोचकों ने सुझाये हैं वे इस प्रकार हैं:—

१. साहित्यकला के वर्ण्य विषय में ही दोष बढ़ते जा रहे है।

२. ज्ञान का क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है; अतः चेतना अधिक बहुमुखी और चक्राकार होती जा रही है।

३. साहित्यकार का व्यक्तित्व कुचला हुआ और आत्मपीडक है।

४. साहित्यकार एकान्त व्यक्तिवाद का पोषण करता है अतः उसकी चिंता-धारा ही कल्पनाश्रित 'रूपवाद' में खो गयी है।

५. साहित्य की अभिव्यंजना के नये-नये माध्यम और साधन बढ़ते जा रहे हैं। अत. साहित्यकार की प्रयोगशील अवस्था की यह दुरवस्था है।

६. जीवन के विराट् संघर्ष में साहित्यकार दिशि-

द्वारा, पथ-द्वारा हो गया है। इसलिए राह न सूझने से वह अँधेरे में डोल रहा है।

७. या, आज का पाठक और श्रोता ही विकृति का प्रशंसक और इच्छुक बन गया है। अतः फिल्मों के समान साहित्य और कला में भी एक प्रकार का सस्तापन, भद्दापन या हलकापन आ गया है।

मैंने कुछ कारण ऊपर सुझाये हैं। और भी कारण हो सकते हैं। मैं विस्तार में जाना नहीं चाहता। परन्तु एक तो हमें आज के साहित्य में अस्वास्थ्य को मान कर चलना चाहिए और उससे लड़ने का यत्न करना चाहिए, अथवा फिर उसे एक अनिवार्य युग-रोग मान कर स्वीकार करके चुप रहना चाहिए जो कि इष्ट नहीं। साहित्य में स्वास्थ्य कैसे लाया जा सकेगा, यह दूसरा विषय है, अतः दोनों के निराकरण की चर्चा अन्य प्रबन्ध में करूंगा।

कवि वर्तमान और भावी संसार के बीच की शृंखला है।

वह एक निर्मल झरना है, जिस पर समस्त प्यासी आत्माएँ पानी पी सकती हैं।

वह सौन्दर्य सरिता से सींचा हुआ वृक्ष है, जिसके फलों के लिए भूखे हृदय लालसित रहते हैं।

वह एक बुलबुल है, जो अपनी मनोहर तानों से उदास मन को सान्त्वना देती है।

वह एक सफ़ेद बादल है, जो क्षितिज से उठ कर ऊपर चढ़ता जाता है और बढ़ता जाता है—और अन्त में समस्त आकाश को आच्छादित कर लेता है; फिर वह जीवन के उपवन में फूलों पर बरसता है और उनकी पंखड़ियों को खोल देता है, जिससे उनके भीतर प्रकाश पहुँच सके।

—खलील जिब्रान

"ग्राम्या"

—शान्तिप्रिय द्विवेदी

"सुलभ यहाँ रे कवि को जग में
युग का नहीं सत्य शिव सुन्दर,
कँप-कँप उठते उसके उर की
व्यथा-विमूर्च्छित वीणा के स्वर !"

पन्त जी लिखते हैं—"युगवाणी के दृष्टिकोण से यदि हम अपने ग्रामीणों के जीवन को देखें तो आप गाँवों को शान्ति और प्राकृतिक सुन्दरता की रंगस्थली नहीं पायेंगे। न वहाँ आपको स्वर्ग का सुख ही कहीं देखने को मिलेगा जैसा कि आप प्रायः द्विवेदी-युग के कवियों के 'ग्राम-वर्णन' में पढ़ते आये हैं। सच बात तो यह है कि 'ग्राम्या' की निम्न पंक्तियाँ ही हमारे ग्राम-जीवन का सच्चा चित्र हैं—

यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम सभ्यता संस्कृति से निर्वासित !
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में
गृह-गृह में है कलह, खेत में कलह, कलह है मग में !
प्रकृति-धाम यह : तृण-तृण कण-कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवन्मृत।"

पन्त जी ने 'ग्राम्या' में जिस ग्राम-जीवन को देखा है वह कृत्रिम अर्थ-शास्त्र का दुष्परिणाम है। द्विवेदी-युग के कवियों ने प्रकृतिस्थ युग के ग्रामीण जीवन को देखा था, उस समय तक नगरों की आर्थिक राजनीति ने गाँवों को नहीं ग्रसा था, जीवन में सामाजिक सौष्ठव शेष था। उस युग का सांस्कृतिक और प्राकृतिक सौन्दर्य द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवि की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—

गोपद-चिह्नित आँगन-तट हैं,
रक्खे एक ओर जल-घट हैं।
खपरैलों पर बेलें छाईं;
फूली-फलीं, हरी, मन-भाईं।

इस ग्राम्य चित्र में संस्कृति और प्रकृति का स्वाभाविक साहचर्य है।

गाँव अभी तक 'प्रकृति-धाम' ही हैं, किन्तु आर्थिक दुश्चिन्ता के कारण नागरिकों की तरह ग्रामवासियों का सम्बन्ध भी प्रकृति से विच्छिन्न हो गया है। 'ग्राम्या' में कवि ने कहा है—

यह रवि-शशि का लोक,—जहाँ हँसते समूह में उडुगण,
जहाँ चहकते विहग, बदलते क्षण-क्षण विद्युत-प्रभ घन।
यहाँ वनस्पति रहते, रहती खेतों की हरियाली,
यहाँ फूल हैं, यहीं ओस, कोकिला, आम की डाली!
ये रहते हैं यहाँ,—और नीला नभ, बोई धरती,
सूरज का चौड़ा प्रकाश, ज्योत्स्ना चुपचाप विचरती!

प्रकृति और उसके चिर-सखाओं (ग्राम-मनुजों) के बीच यह मौन असहयोग क्यों? यह दुराव क्यों? इसका कारण यन्त्र-युग का अर्थ-शास्त्र है। मनुष्य और प्रकृति के बीच फिर से सम्बन्ध जोड़ने के लिए, किसी ऐसे औद्योगिक माध्यम (आर्थिक माध्यम) की आवश्यकता है जिसमें प्रकृति की अनुरूपता हो।

सामाजिक स्थिति

पन्त जी ने 'ग्राम्या' की रचना सन् ३९-४० में की थी। वह दूसरे महायुद्ध का आरम्भ-काल

था। उस युद्ध के बाद से विश्व-व्यापी अकाल और आर्थिक गत्यवरोध चारों ओर दिखाई दे रहा है। गाँवों और नगरों में कोई भेद नहीं रह गया है, दोनों एक-से ही अर्थ-ग्रस्त (स्वार्थ-ग्रस्त) हो गये हैं। सब जगह 'अकथनीय क्षुद्रता' फैली हुई है। इन थोड़े वर्षों में ही इतिहास क्या से क्या हो गया! 'ग्राम्या' का ग्राम-चित्र विश्व-चित्र बन गया!

'ग्राम्या' में कवि ने क्षुद्र चेतना, व्यक्तिगत राग-द्वेष, लघु स्वार्थ, अविकार-तृष्णा, और जीवन के प्रति बर्बर दृष्टि-कोण के कारण सारे भारत को 'एक महाग्राम' कहा है। इस दृष्टि से क्या सारा संसार 'ग्रामीण' नहीं हो गया है? सर्वत्र 'आदिम मानव' ही तो निवास कर रहा है!

शरीर से सचल और भीतर से निश्चल, निश्चेतन संसार के सभी 'कठपुतले' मनुष्यों के लिए क्या यही नहीं कहा जा सकता—

किस महारात्रि-तम में निद्रित
ये प्रेत?— स्वप्नवत् सञ्चालित!
किस मोह-मन्त्र से रे कीलित
ये दैव-दग्ध, जग के पीड़ित!!

... ...

ये मानव नहीं, जीव शापित,
चेतना-विहीन, आत्म-विस्मृत!
—('ग्राम्या')

पन्त जी सामाजिक पतन का कारण व्यक्तिवाद को मानते हैं। आर्थिक दृष्टि से वे यन्त्रों का सामूहिक सदुपयोग चाहते हैं। आर्थिक दृष्टि से ही नहीं, सांस्कृतिक दृष्टि से भी वे यन्त्रों को उपयोगी समझते हैं—

जड़ नहीं यन्त्र, वे भाव-रूप, संस्कृति-द्योतक;
वे विश्व-शिराएँ, निखिल सभ्यता के पोषक।
—('ग्राम्या')

हमें मध्ययुगों का व्यक्तिवाद वाञ्छनीय नहीं है, किन्तु आधुनिक युग का यन्त्र-प्रेम भी अभीष्ट नहीं है। यन्त्र किसी भी वर्ग, किसी भी तन्त्र के हाथ में क्यों न हों, उनके द्वारा मनुष्य और प्रकृति का सीधा सजीव सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सकता। यन्त्रों में मनुष्य और प्रकृति की संगति नहीं है। दोनों की सुसंगति से ही जीवन संगीत बन सकता है।

यन्त्रों से मनुष्य प्रकृति का शोषक हो जाता है। जिस परिमाण में प्रकृति का शोषण होगा उसी परिमाण में अकाल फैलेगा, मनुष्य मनुष्य का शोषण करेगा। व्यक्तिवाद के होते हुए भी मध्ययुगों में जो सांस्कृतिक उत्थान हुआ था, उसका कारण यह है कि उस युग में प्रकृति सुरक्षित थी। साम्राज्यों और सामन्तों ने मनुष्य का शोषण किया, किन्तु संस्कृति के लिए सृष्टि की सञ्जीवनी शक्ति (प्रकृति) बनी हुई थी। वस्तुतः प्रकृति ही संस्कृति और कला का मूल है। सत्य-शिव-सुन्दर मानवी चेतना में प्रकृति का ही मनोविकास है।

युगों के आर्थिक शोषण के कारण गाँवों का जीवन सूख गया। 'वीणा' की ये पंक्तियाँ सहसा याद आ जाती हैं—

सखी! सूखी विन्दाल—
सम्मुख बहती है वह नीरव,
निःसलिला, कङ्काल!
गिरी-बिखरी, स्मृति-सी प्राचीन,
अतृप्त, अकथ, वियोग-सी दीन!

अचिर-लालसा-सी निर्बल वह,
वैभव-सी कङ्गाल!
समय के पद-चिह्नों-सी क्षीण,
स्वप्न-संसृति-सी आज विलीन!

शब्दशः यही स्थिति सम्पूर्ण ग्रामीण विश्व की है। सभी की जीवन-धारा सूख गयी है, अच्छे दिनों

की स्मृति 'समय के पद-चिह्नों-सी क्षीण' हो गयी है। जीवन के अभाव में कंकाल की तरह रूढ़ियाँ ही समाज में उभरी हुई हैं। प्रकृति के धाम अब 'रूढ़ि-धाम' रह गये हैं। कवि सहानुभूति-पूर्वक कहता है—

इनमें विश्वास, अगाध, अटल,
इनको चाहिए प्रकाश नवल,
भर सके नया जो इनमें बल!
—('ग्राम्या')

बौद्धिक सहानुभूति

'ग्राम्या' के 'निवेदन' में पन्त जी ने अपनी सहानुभूति को 'बौद्धिक' कहा है। उनके कथनानुसार "बौद्धिकता हार्दिकता ही का दूसरा रूप है, वह हृदय की कृपणता से नहीं आती।" पन्त जी की बौद्धिक सहानुभूति में एक चिकित्सक की सी स्वस्थ संवेदनशीलता है, वह रोगी के साथ स्वयं भी रुग्ण नहीं हो जाता, बल्कि रोग का निदान और उपचार अपने विवेक से करता है। विवेक के अभाव में सहानुभूति दयामात्र (निष्क्रिय करुणा) रह जाती है। पन्त जी लिखते हैं—"जहाँ आलोचनात्मक दृष्टि की आवश्यकता है, वहाँ केवल भावुकता और सहानुभूति से कैसे काम चल सकता? वह तो ग्रामीणों के दुर्भाग्य से आँसू बहाने या पराधीन, क्षुधा-ग्रस्त किसानों को तपस्वी की उपाधि देने के सिवा हमें आगे नहीं ले जा सकती। इस प्रकार की थोथी सहानुभूति या दया-काव्य (पिटी पोएट्री) से मैंने 'वे आँखें', 'गाँव के लड़के', 'वह बुड्ढा', 'ग्राम-वधू', 'नहान' आदि कविताओं को बचाया है, जिनमें वर्तमान प्रणाली के शिकार, ग्रामीणों की दुर्गति का वर्णन होने के कारण ये बातें सहज ही में आ सकती थीं।"

पन्त जी ने मनुष्य से नहीं, उसकी सामाजिक व्याधियों से घृणा की है। ग्रामीणों के साथ उनकी हार्दिक सहानुभूति है, किन्तु उस प्रणाली से उन्हें बौद्धिक असन्तोष है जिसने ग्रामीणों को दीन-हीन, दयनीय बना दिया। पन्त जी कहते हैं—"मैंने ग्राम-जनता को 'रक्त माँस के जीवों' के रूप में नहीं देखा है, एक मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव-स्वरूप देखा है, और ग्रामों को सामन्त-युग के खँडहर के रूप में।"—इन शब्दों में इतिहास का भविष्य देखा जा सकता है; दूसरे महायुद्ध के बाद सामन्त-युग समाप्त हो रहा है, उसी के साथ-साथ पूंजीवाद भी। तीसरे युद्ध के बाद यंत्रों का भी भाग्य स्पष्ट हो जाएगा।

सांस्कृतिक दृष्टि

जनता को उसकी दयनीय स्थिति से उबारने के लिए पन्त जी ने प्रणाली बदलने का संकेत किया है, क्योंकि व्यक्ति अपने युग की प्रणाली का एक अंग-मात्र है। 'दया' से नहीं, सामूहिक (सामाजिक) जीवन से प्रणाली बदली जा सकती है। अपनी 'पाँच कहानी' के 'पानवाला' में पन्त जी लिखते हैं—"आत्म-संतोष के लिए धनी युवकों के पास जाना पीताम्बर की अनुभव-शून्यता एवं भ्रम था। वे इस काम के लिए उससे भी निर्धन थे। यह काम किसी एक व्यक्ति के करने का था भी नहीं। इसका सम्पादक या संचालक हो सकता है हमारा सुव्यवस्थित सामाजिक या सामूहिक व्यक्तित्व।"

'ग्राम्या' में पन्त जी ने इसी सामूहिक व्यक्तित्व के जागरण की प्रेरणा दी है—

घुसे घरौंदों में मिट्टी के, अपनी-अपनी सोच रहे जन,
क्या ऐसा कुछ नहीं, फूंक दे जो सबमें सामूहिक जीवन?

पन्तजी का सामूहिक दृष्टिकोण 'ग्राम्या' में भी मार्क्सवादी है। इसी दृष्टि से वे दुःख—दैन्य—पूर्ण, 'अन्धकार की गुहा सरीखी' आँखों को देख कर कहते हैं—

वर्ग-सभ्यता के मन्दिर के
निचले तल की वे वातायन!

किन्तु वर्ग-चेतना पन्त जी की सामाजिक सीमा नहीं है। वर्ग-चेतना का दृष्टिकोण आर्थिक (राजनीतिक) है। 'ग्राम्या' का दृष्टिकोण मुख्यतः सांस्कृतिक (मानसिक) है। तुलनात्मक दृष्टि से पन्त जी कहते हैं—"सर्वहारा (मशीन के सम्पर्क में आई हुई जनता) की बीमारी उसके राज-नीतिक वर्ग-संस्कार हैं, जिनका लारेंस ने चित्रण किया है। अपने देश के जन-समूह की बीमारी उससे कहीं गहरी, आध्यात्मिकता के नाम में रूढि-रीतियों एवं अन्ध-विश्वासों के रूप में पथराये हुए (फ़ासिलाइज्ड) उनके सांस्कृतिक संस्कार हैं।"—इस दृष्टि से न केवल 'ग्राम्या' की, बल्कि विश्व-जीवन की भी समस्या आन्तरिक है, कवि इसी ओर ध्यान दिलाता है—

राजनीति का प्रश्न नहीं रे
आज जगत् के सम्मुख,
अर्थ- साम्य भी मिटा न सकता
मानव-जीवन के दुख।
व्यर्थ सकल इतिहासों,
विज्ञानों का सागर-मन्थन,
यहाँ नहीं युगलक्ष्मी,
जीवन-सुधा, इन्दु जन-मोहन!
आज वृहत् सांस्कृतिक समस्या
जग के निकट उपस्थित,
खण्ड मनुजता को युग-युग की
होना है नव-निर्मित।
विविध जाति, वर्गों, धर्मों को
होना सहज समन्वित,
मध्य युगों की नैतिकता को
मानवता में विकसित।

—('ग्राम्या')

कविता का अभिप्राय यह है कि बिना सांस्कृतिक विकास (अन्तर्विकास) के, केवल बाह्य प्रयत्नों (आर्थिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक प्रयत्नों) से विश्व का कल्याण सम्भव नहीं है। युग की प्रगति में जब सबके सांस्कृतिक पग एक साथ उठेंगे तभी जन-हित हो सकेगा।

कवि देख रहा है कि आज जो जन-क्रान्ति हो रही है वह उन परिस्थितियों को प्रस्तुत कर रही है जिनसे मनुष्य के मध्यकालीन सांस्कृतिक हृदय को नवीन आत्मा मिलेगी—

बहु जाति धर्म औ' नीति कर्म में पा विकास
गत सगुण आज लय होने को; औ' नवप्रकाश
नवस्थितियों के सर्जन से हो अब शनैः उदय
बन रहा मनुज की नव आत्मा, सांस्कृतिक हृदय।

—('ग्राम्या')

व्यक्तिवाद के कारण मध्य युगों में संस्कृति का सगुण रूप लोकोत्तर पुरुषों में केन्द्रित था और पूँजीवादी युग में 'मानवी संस्कृतियाँ वर्ग-चयन से पीडित' चली आ रही हैं। कवि कहता है कि संक्रान्ति-काल के बाद सांस्कृतिक गुण वर्गों और व्यक्तियों में सीमित न रह कर जन-जन में मूर्त होने जा रहा है—

आज मानव जीवन का सत्य
धर रहा नये रूप-आकार,
आज युग का गुण है जन-रूप,
रूप-जन संस्कृति के आधार!

पन्त जी संस्कृति को मनुष्य के स्थूल जीवन में सगुण देख रहे हैं—

स्थूल, जन आदर्शों की सृष्टि
कर रही नव-संस्कृति निर्माण,
स्थूल-युग का शिव, सुन्दर, सत्य,
स्थूल ही सूक्ष्म आज, जन-प्राण!

—('ग्राम्या')

सगुण तो अपनी साकारता में स्थूल ही होता है। किन्तु नवजीवी युग में उसकी नवीनता यह होगी कि वह मध्यकाल की तरह मनुष्य के पार-

लौकिक प्रयत्नों में नहीं, बल्कि लौकिक जीवन में प्रत्यक्ष होगा।

डी० एच० लारेन्स के प्रसंग में पन्त जी ने लिखा है--"लारेन्स जीवन के मूल्यों के सम्बन्ध में प्राणिशास्त्रीय मनोविज्ञान [बायोलाजिकल थाट] से प्रभावित हुआ है, मैं ऐतिहासिक विचार-धारा से ; जिसका कारण स्पष्ट ही है कि मैं पराधीन देश का कवि हूँ * । लारेन्स जहां द्वन्द्व-पीडन (सेक्स-रिप्रेशन) से मुक्ति चाहता है, मैं राजनीतिक आर्थिक शोषण से।"

यद्यपि पन्त जी की प्रगतिशील रचनाओं का अन्तर्मुख सांस्कृतिक है, तथापि सामाजिक समस्याओं के रूप में प्राणिशास्त्र, अर्थशास्त्र और द्वन्द्व-पीडन भी संस्कृति के साथ सम्बद्ध हैं। 'युगवाणी' में मार्क्स का आर्थिक दृष्टिकोण तो है ही, 'अवचेतन' में फ्रायड का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण भी है। नारी की अधोगति या जागृति पर भी दृष्टिपात किया गया है। 'ग्राम्या' के 'द्वन्द्व-प्रणय' में 'सेक्स रिप्रेशन' है, 'सौन्दर्य-कला' में प्राणिशास्त्र और अर्थशास्त्र का संयोजन है।

इस तरह पन्त जी का सांस्कृतिक हृदय अतीन्द्रिय नहीं है; वह सदेह है, उसमें जीव का जीवन है--'जीव-जनित जो सहज भावना, संस्कृति उससे निर्मित।' ऐसी संस्कृति में जीव की नैसर्गिक दुर्बलता भी अपने स्थान पर सार्थक है। कवि कहता है--

वह भी क्या मानव-जीवन का लाञ्छन ?
वह, मानव के देव-भाव का वाहन !

—('युगवाणी')

अतएव,

'मत कहो मांस की दुर्बलता हे जीवप्रवर !'

—('ग्राम्या')

पन्त जी संस्कृति को भौतिकवादी दृष्टि से देखते हुए भी उसके आध्यात्मिक पक्ष के प्रति जागरूक है। यहीं वे गान्धी जी के श्रद्धालु और जिज्ञासु हैं। 'ग्राम्या' के 'बापू' में वे पूछते हैं—

चरमोन्नत जग में जब कि आज विज्ञान, ज्ञान,
बहु भौतिक साधन, यन्त्र, यान, वैभव महान,
सेवक हैं विद्युत-वाष्प-शक्ति, धन बल नितान्त,
फिर क्यों जग में उत्पीडन ? जीवन यों अशान्त ?

कवि गान्धीवादी दृष्टि से इस प्रश्न का उत्तर स्वयं दे लेता है--

मानव ने पायी देश-काल पर जय निश्चय,
मानव के पास नहीं मानव का आज हृदय !
चर्वित उसका विज्ञान, ज्ञान : वह नहीं पचित :
भौतिक मद से मानव-आत्मा हो गयी विजित !

× × ×

चाहिए विश्व को आज भाव का नवोन्मेष,
मानव-उर में फिर मानवता का हो प्रवेश !

('ग्राम्या')

'विज्ञान-ज्ञान' के सामूहिक सदुपयोग के लिए कवि मार्क्सवाद के साथ है और उसे 'भौतिक मद' से उबारने के लिए, उसमें मानवता का 'भावोन्मेष' करने के लिए गान्धीवाद के साथ है।

'ग्राम्या' के 'महात्मा जी के प्रति' शीर्षक कविता में कवि ने दिखलाया है कि गान्धी जी भाव-सत्य को ले कर चले थे। कवि कहता है--

वस्तु-सत्य का करते भी तुम जग में यदि आवाहन,
सबसे पहिले विमुख तुम्हारा होता निर्धन भारत;

* देश स्वाधीन हो गया, किन्तु 'उत्तरा' की प्रस्तावना में पन्त जी का मन्तव्य यह है कि "गान्धीवाद का सांस्कृतिक चरण अभी पंगु है।"

मध्य-युगों की नैतिकता में पोषित-शोषित जनगण
बिना भाव-सप्नों को परखे कब हो सकते जाग्रत ?

किन्तु गान्धी जी वस्तु-सत्य को ही ले कर चले थे, वस्तु के लिए वे भाव को छोड़ सकते थे। उनका दृष्टिकोण उपयोगितावादी था, इसीलिए उन्होंने बगीचों को खेती पर, फूलों को अन्न पर न्यौछावर कर दिया। फिर भी उनका वस्तु-सत्य भावोत्पादक था, वह प्राकृतिक दिशा में था। अलसी-तीसी और मटर के फूलों को देख कर मनुष्य की भाव-चेतना खिल उठती, उसके हृदय से उद्यानों की स्मृति निःशेष नहीं हो जाती, अनुकूल समय पा कर शोभा का संसार (उद्यान) वह पुनः रच लेता।

गान्धी जी का वस्तु-सत्य अध्यात्म और काव्य की ओर था, मार्क्स का वस्तु-सत्य इतिहास और विज्ञान की ओर। पन्त जी 'महात्मा जी के प्रति' कहते हैं—

क्रिये प्रयोग नीति-सत्यों के तुमने जन-जीवन पर,
भावादर्श न सिद्ध कर सके सामूहिक जीवन-हित।

इसका कारण यह कि गान्धी जी का उद्योग (ग्रामोद्योग) तो सगुण (भावादर्श) की दिशा में था, किन्तु उनका कर्मयोग (अनासक्त योग) निर्गुण की दिशा में। उनके कर्मयोग में नैतिकता की पराकाष्ठा है, आसक्ति के लिए अति-निषेध है। 'युगवाणी' के शब्दों में गान्धीवाद के लिए भी यही कहा जा सकता है—

'बाँध दिया मानव ने पीडित पशु-तन।'

नैतिक बन्धनों का विरोध निर्बन्ध (उच्छृंखल) हो कर भी किया जा सकता है और जीवन से छन्दोबद्ध (सुश्रृंखल) होकर भी। एक में दायित्व-शून्यता है, दूसरे में रचनात्मक शक्ति।

नैतिक बन्धनों का विरोध छायावाद (सगुणवाद) ने भी रचनात्मक दृष्टि से किया। यहाँ कविगुरु रवीन्द्रनाथ की याद आती है, जिन्होंने कहा है—"वैराग्य-साधन से जो मुक्ति होती है वह मुझे नहीं चाहिए। मैं तो असंख्य (सांसारिक) बन्धनों के बीच में पड़ा हुआ महानन्दमय (सच्चिदानन्दमय) मुक्ति का स्वाद पाऊँगा।.........दृश्य, गन्ध, गान में जो कुछ भी आनन्द है उनके बीच मुझे तुम्हारा ही आनन्द उपलब्ध होगा, तब मेरा मोह ही मुक्ति-रूप में खिल उठेगा, मेरा प्रेम ही भक्ति-रूप में सफल हो जाएगा।"

'गुञ्जन' में 'तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन' का सन्देश देने वाले पन्त जी भी दृश्य, गन्ध और गान के कवि हैं।

पन्त जी का भावादर्श कृष्ण के युग का है, यह 'ज्योत्स्ना' के इस गीत से सुस्पष्ट है—

हास-हास, लास-लास,
साँस-साँस में सुवास।
दल-दल में रंग-रंग,
पल-पल में नव उमंग !
कलि-कलि में नव-विकास
जग चिर जीवन-निवास।
हिल हँस लें संग-संग,
जीवन चल-जल-तरंग !

कृष्ण के युग में भी—
"जग जीवन नित नव-नव,
प्रतिदिन, प्रतिक्षण उत्सव !"—था।

कृष्ण-युग का भावादर्श भी 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की सामाजिक क्रान्ति (नैतिक अथवा सांस्कृतिक क्रान्ति) की ओर था। पन्त जी ने उस युग को बड़ी मुग्धता से देखा है। वे लिखते हैं—"मर्यादा-पुरुषोत्तम के स्वरूप में कृषि-जीवन के आचार-विचार, रीति-नीति सम्बन्धी सात्त्विक चाँदी के तारों से बुने हुए भारतीय संस्कृति के बहुमूल्य पट में विभवमूर्ति कृष्ण ने सोने का सुन्दर काम कर उसे रत्नजटित राजसी बेलबूटों से अलंकृत कर दिया। कृष्ण-युग

की नारी भी हमारी विभव-युग की नारी है। वह 'मनसा-वाचा-कर्मणा जो मेरे मन राम' वाली एकनिष्ठ पत्नी नहीं,—लाख प्रयत्न करने पर भी उसका मन वंशीध्वनि पर मुग्ध हो उठता है, वह विह्वल है, उच्छ्वसित है। सामन्त-युग की नैतिकता के तंग अहाते के भीतर श्रीकृष्ण ने विभव-युग के नर-नारियों के सदाचार में भी क्रान्ति उपस्थिति की है। श्रीकृष्ण की गोपियाँ अभ्युदय के युग में फिर से गोप-संस्कृति का लिबास पहनती हुई दिखाई देती हैं।"

पन्त जी भी भावी भारत के अभ्युदय-काल के कवि हैं। वे नवीन इन्द्रियों में सगुण को नव-जीवन दे रहे हैं। वर्तमान तो एक 'मरणासन्न वास्तविकता' है, इसीलिए उनका सांस्कृतिक हृदय भविष्य के 'सुदूर मनोनभ में' विहार करता है। उनके जैसे युग-द्रष्टा कलाकार के लिए भी यही कहा जा सकता है—

'देख रहे मानव भविष्य तुम मनश्चक्षु बन अपलक!'

पन्त जी का भावादर्श तो कृषि-युग (कृष्ण-युग) का है, किन्तु उसे वे यन्त्र-युग में रोपना चाहते हैं। पन्त जी गान्धी जी के राम-युग में नहीं हैं, यन्त्र-युग में आकर वे अपने को कृष्ण-युग से भी अलग कर लेते हैं। कहते हैं—"जिस प्रकार कृषि-युग ने पशुजीवी-युग * के मनुष्य की अन्तर्बाह्य चेतना में प्रकारान्तर उपस्थित कर दिया उसी प्रकार यन्त्र का आगमन सामन्त-युग की परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन लाने की सूचना देता है। सामन्त-युग में भी समय-समय पर छोटी-बड़ी विश्लिष्ट युग की गण-संस्कृतियों का समन्वय हुआ है तथा सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक क्रान्तियाँ हुई हैं, किन्तु उन सबके नैतिक मानों और आदर्शों को सामन्त युग की परिस्थितियों ही ने प्रभावित किया है। भविष्य में इस प्रकार के सभी प्रयत्नों से सम्बन्ध रखने वाले मौलिक सिद्धान्तों और मानों को यन्त्र-युग की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ निर्धारित करेंगी।"

कृषि-युग 'ग्राम्या' के किसानों का युग था, यन्त्र-युग 'युगवाणी' के 'श्रमजीवी' का है। कृषि-युग में भावादर्श हलधर (बलराम) के सहयोग से सम्भव हो सका था, अब वह यन्त्र-युग के यन्त्रधरों (मजदूरों) से सुलभ हो गया।

भाव-सृष्टि

'युगवाणी' में मार्क्सवाद के सद्यः अध्ययन की उष्णता थी, 'ग्राम्या' में सुस्थिर मनन-चिन्तन की गम्भीरता और शीतलता है। इसमें 'युगवाणी' की तीव्रता और वक्तृता नहीं, रस-विदग्धता है। विचार-चित्र भाव-चित्र बन गये हैं। 'सौन्दर्य-कला', 'स्वीट पी', 'कला के प्रति', 'पतझर', 'उद्बोधन,' 'नव-इन्द्रिय', 'कवि-किसान', 'वाणी', 'गंगा' शीर्षक कविताओं में सिद्धान्तों को स्वरूप मिल सका है। 'स्वीट पी' 'युगवाणी' के 'बन्द तुम्हारे द्वार' की याद दिलाती है। दोनों में नारी-जागृति का सन्देश दिया गया है। 'बन्द तुम्हारे द्वार' में सुन्दर भाव-दृष्टान्त है, 'स्वीट पी' में मनोहर रूपक।

पन्त जी कहते हैं—"अगर 'युगवाणी' में मेरे चिन्तन का दर्शन-पक्ष है तो 'ग्राम्या' में उसी का भाव-पक्ष है।......कला की दृष्टि से 'युगवाणी' भाषा अधिक सूक्ष्म (एब्स्ट्रेक्ट) है जो कि बुद्धि-प्रधान काव्य का एक संस्कार एवं अलंकार भी है। उसमें विश्लेषण का बारीक सौन्दर्य मिलता है। 'ग्राम्या' में वही शैली जैसे अधिक भावात्मक हो कर खेतों की हरियाली में लहलहा उठी है।"

* पन्त जी ने इतिहास का मौलिक ढंग से विवेचन किया है, जिसे 'ग्राम्या' के 'ग्राम देवता' में देखा जा सकता है।

'ग्राम्या' की रचना कुछ वर्षों के कालाकाँकर-प्रवास में की गयी। वह कवि का वनवास-काल है। गाँवों का सामाजिक जीवन 'निराला' की तरह भले ही भूल गया हो किन्तु वहाँ के वन्य वातावरण ने प्रकृति के इस कवि के काव्य-स्रोत को सूखने नहीं दिया।

पन्त जी के लिए ग्राम-जीवन नवीन नहीं है। अपनी कविता के आरम्भ-काल में ही अपनी जन्म-भूमि हिमांचल के अंचल में उन्होंने उस जीवन की एक झलक पा ली थी—

उस सीधे जीवन का क्रम
हिम-हास से शोभित है नव
पके धान की डाली में,—
अवनी के हँसल रुन-झुन
(मधुव्रत का मृदु गाते गुन,)
केवल ग्राम्या के साथी हैं
इस ऊषा की लाली में।
मातृ-मरन्द-मय, मृदु मलय,
शान्ति, सरल औ' श्रम-अतिशय,
तथा कोंपल ने नव पत्तों से
अर्चन करता है सादर—
अखिल सुरभि भालों में!
—('वीणा')

'ग्राम्या' की नवीनता उसकी भाषा, शैली और स्वाभाविकता में है। छायावाद के प्रतिनिधि-कवि की शैली सरल, सुस्पष्ट, स्वाभाविक रचना देख कर विस्मय होता है—पन्त जी की प्रतिभा समीर की तरह कितनी व्यापक और संचरणशील है! उसमें जीवन के सभी झुलनों, कला की सभी अभिव्यक्तियों और काल की सभी दिशाओं को स्पर्श करने की शक्ति है।

'ग्राम्या' सचमुच जन-साहित्य है। पन्त ने जिस सजीवता, स्वाभाविकता और निकटता से ग्राम-जीवन और वहाँ की प्रकृति का चित्रण किया, उस तन्मयता से द्विवेदी-युग के कवि भी (जो मूलतः ग्रामीण थे,) नहीं कर सके। ग्राम-जगत् का प्रतिनिधित्व प्रेमचन्द जी ने किया। यदि वे जीवित होते तो 'ग्राम्या' की सरसता, स्वाभाविकता और मार्मिकता उन्हें भी स्पृहणीय जान पड़ती।

'ग्राम्या' हिन्दी के जन-साहित्य में बेजोड़ है। उसकी स्वाभाविकता का प्रभाव छायावाद के अन्य प्रतिनिधि-कवियों पर पड़ा।

'गुंजन' में पन्त जी ने कहा था—

सुन्दर विश्वासों से ही
बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यों सहज-सहज साँसों से
चलता उर का मृदु स्पन्दन।

'ग्राम्या' में 'सहज-सहज साँसों' से उर का वही 'मृदु-स्पन्दन' संचालित है। पन्त जी के चिन्तन को उन्हीं के बौद्धिक व्यक्तित्व की तरह तटस्थ छोड़ कर 'ग्राम्या' अपने-आप में सम्पूर्ण सरलतम कृति है। 'वे आँखें', 'वह बुड्ढा', 'ग्राम-श्री', 'संध्या के बाद', शीर्षक कविताओं को गाँवों की जनता भी समझ सकती है। इनमें जीवन के प्राकृत चित्र हैं। इस दृष्टि से 'युगवाणी' में भी 'ग्राम्या' की सरलता-स्वाभाविकता का अभाव नहीं है—देखिए 'दो लड़के', 'दो मित्र'।

'युगवाणी' में पन्त जी दार्शनिक कलाकार थे, 'ग्राम्या' में वे दर्शक और भावुक कलाकार हैं। उनका 'गीतिनाट्य' इसमें गीत-काव्य बन गया है। 'युगवाणी' के बाद 'ग्राम्या' रूपवाणी है। 'ग्राम युवती' से लेकर ग्रामों के विविध नृत्यों में 'ग्राम्या' सौन्दर्य, प्रेम और कला की रंगभूमि बन गयी है।

'ग्राम युवती' शीर्षक कविता ब्रजभाषा की शृंगारिक कविताओं का स्मरण दिलाती है। वैसी ही सरस किन्तु नवीन लावण्यपूर्ण, मानो ब्रज की लचीली कोमलता खड़ी बोली की सुदृढ़ स्वस्थता पा गयी है—

उन्मद यौवन से उभर,
घटा-सी नव असाढ़ की सुन्दर,
अति श्याम वरण,
श्लथ, मन्द चरण,
इठलाती आती ग्राम युवति
वह गज गति
सर्प डगर पर !

'गजगति' और 'सर्प डगर' के अनुसार ही यह मुक्त छन्द भी अपनी गति-यति में ऋजु-कुंचित है।

इस कविता में व्रजभाषा के पनघट को नूतन चित्रपट मिला है। रूप-रंग, हाव-भाव, दृश्य और पात्र के अनुरूप ही शब्दों में सहज-सजीवता है।

'ग्राम्या' के नृत्यों को पन्त जी ने एक कलाविद् की तरह सँजोया है। इन नृत्यों में विविध जातियों (धोबियों, चमारों और कहारों) की बोलियों, नाट्यों, धुनों और वेश-भूषा का ज्यों का त्यों रूपांकन है। दृश्य, गति, लय और ताल के अनुसार छन्दों में भी चढ़ाव-उतार और बहाव है। कवि ने इन नृत्यों को बड़ी सूक्ष्मता और तन्मयता से देखा है; उनमें मानव के सतृष्ण जीवन का दर्शन किया है—

वह काम-शिखा-सी रही सिहर,
नट की कटि में लालसा-भँवर,
कँप कँप नितम्ब उसके थर-थर
भर रहे घंटियों में रति-स्वर,
लो, छन छन, छन छन
छन छन, छुन छन,
मत्त गुजरिया हरती मन।

शृंगार की पराकाष्ठा पर पहुँच कर जब पाठकों का मन उद्दीप्त हो उठता है तब कवि अपने परिहास से उन्हें सजग कर देता है—'स्त्री नहीं गुजरिया, वह है नर।' इस पंक्ति से श्लीलता (शीलता) की की रक्षा हो जाती है, नर का मधुर नृत्य शंकर का लास्य बन जाता है।

जीव की जो आकांक्षाएँ जीवन में अतृप्त रह जाती हैं, वे ही कला में अपनी परितृप्ति पाती है—

उर की अतृप्त वासना उभर
इस ढोल मँजीरे के स्वर पर
नाचती, गान के फैला पर।
('धोबियों का नृत्य')

• • •

ये समाज के नीच अधम जन,
नाच कूद कर बहलाते मन,
वर्णों के पददलित चरण ये
मिटा रहे निज कसक औ' कुढ़न,
कर उच्छृंखलता, उद्धतपन।
('चमारों का नृत्य'

मनुष्य के कलात्मक क्षणों में ही कवि ने संस्कृति का भव्य भविष्य देखा है—

वाद्यों के उन्मत्त घोष से, गायन-स्वर से कम्पित।
जन-इच्छा का गाढ चित्र कर हृदय-पटल पर अंकित,
खोल गये संसार नया तुम मेरे मन में, क्षण भर
जन-संस्कृति का तिग्म स्फीत सौन्दर्य्य-स्वप्न दिखला कर!
('कहारों का रुद्र नृत्य')

जहाँ-जहाँ मनुष्य का जीवन अपनी स्वाभाविक गति से संसरण कर रहा है वहाँ-वहाँ कवि का हृदय-संचरण है। जहाँ काल और समाज के कृत्रिम व्यवधान से जीवन का सौन्दर्य म्रियमाण हो गया है वहाँ कवि की सहानुभूति द्रवीभूत हो उठी है—

रे दो दिन का
उसका यौवन
सपना छिन का
रहता न स्मरण!
दुःखों से पिस,
दुर्दिन में घिस,
जर्जर हो जाता उसका तन!
ढह जाता असमय यौवन-धन!

वह जाता तट का तिनका
जो लहरों से हँस-खेला कुछ क्षण !!
('ग्राम युवती')

जहाँ मनुष्य का जीवन निर्माण-रहित है, अन्तर्बाह्य विकास (सुरुचि और स्वास्थ्य) से वंचित है, वहाँ कवि सामाजिक अव्यवस्था अथवा ऐतिहासिक शोषण की ओर संकेत करता है—

झाड़-फूँस के विवर-यही, क्या जीवन-शिल्पी के घर ?
कीड़ों-से रेंगते कौन ये ? बुद्धिप्राण नारी-नर ?
—('ग्रामचित्र')

कोई खण्डित, कोई कुण्ठित,
कृश बाहु, पसलियाँ रेखांकित,
टहनी-सी टाँगें, बड़ा पेट,
टेढ़े-मेढ़े, विकलांग घृणित !
इन कीड़ों का भी मनुज-बीज
यह सोच हृदय उठता पसीज !
—('गाँव के लड़के')

'ग्राम्या' में प्रकृत चित्र भी हैं और रंग-चित्र (भाव-चित्र) भी। 'युगवाणी' में कवि ने 'पलाश के प्रति' कहा था—

प्राप्त नहीं मानव-जग को वह मर्मोज्ज्वल उल्लास
जो कि तुम्हारी डाल-डाल पर करता सहज विलास !

वह 'मर्मोज्ज्वल उल्लास' 'ग्राम्या' के दैनन्दिन जीवन में भी नहीं है—

रोना गाना यहाँ चलन भर,
आता उसमें उभर न अन्तर।

फिर भी कवि ने 'ग्राम्या' को अपनी कल्पना की रंग-हीन रंगभूमि' बनाया है। कवि की कल्पना लोक-चेतना के विकास के लिए उपादान के रूप में उपयुक्त हुई है। 'युगवाणी' के 'पलाश' की तरह इस युग-स्रष्टा कवि के लिए भी यही कृतज्ञ उद्गार मुँह से बरबस निकल पड़ता है—

हृदय-रक्त ही अर्पित कर मधु को, अपर्ण-श्री शाल !
तुमने जग में आज जला दी दिशि-दिशि जीवन ज्वाल !

'युगवाणी' में भी रंग-चित्रों (भाव-चित्रों) का अभाव नहीं है, किन्तु सिद्धान्तों की सर्जरी से उसमें जहाँ जीवन सूना हो गया है वहाँ 'विरल टहनियों की' सी 'रेखा-छवि' है, तरुओं के 'नग्न-गात'—सा ठूँठापन है। कवि ने कहा भी है—"युगवाणी में आप टेढ़ी-मेढ़ी पतली ठूँठी टहनियों के वन का दूर तक फैला हुआ वासांसि जीर्णानि यथा विहाय··· सौन्दर्य देखेंगे जिससे नवप्रभात की सुनहली किरणें बारीक रेशमी जाली की तरह लिपटी हुई हैं··· ।"

'ग्राम्या' में विरल टहनियाँ घनी हो गयी हैं और तरुओं के नग्न गात पल्लवों से मांसल हो गये हैं। कवि की कला में रंगों का भराव आ गया है।

'ग्राम्या' में खेतों और बगीचों की शाद्वल शोभा है—

हँसमुख हरियाली, हिम-आतप,
सुख से अलसाये-से सोये,
भीगी अँधियाली में निशि की
तारक स्वप्नों में-से खोये,—
मरकत डिब्बे-सा खुला ग्राम—
जिस पर नीलम नभ आच्छादन,—
निरुपम हिमान्त में स्निग्ध शान्त
निज शोभा से हरता जन-मन !
—('ग्राम्या': 'ग्रामश्री')

गाँवों के जीवन में पतझड़ है, किन्तु जहाँ 'लहलह पालक, महमह धनिया' है वहाँ सौन्दर्य और सौरभ से ग्राम—जगत् रंग-जगत् (भाव-जगत्) भी बन गया है। 'ग्राम्या' का कवि भी वहाँ की जीवन्त प्रकृति से विमुख नहीं रह सका, उसका दार्शनिक आलोचक लोक-संग्राहक और भाव-संवाहक हो गया है। वह अपने वर्ग की 'ऊँची डाली' से नीचे 'जन-भू पर' उतर आया है।

ग्रामजीवन के अनुकूल 'ग्राम्या' में कुछ राष्ट्रीय कविताएँ भी हैं, इनमें से 'भारतमाता' ('भारतमाता ग्रामवासिनी') लोकप्रिय हो चुकी है। 'राष्ट्रगान' शीर्षक कविता में नवीन जन-युग की चेतना का संगीत है। 'युगवाणी' के श्रमजीवी का जीवन-संगीत 'घननाद' में था, 'ग्राम्या' के कृषिजीवी का जीवन-संगीत 'चर्खा गीत' में है। यह गीत इतना सरल-सुगम है कि आश्रमों में गाया जा सकता है।

'ग्राम्या' में कई कविताएँ रेखा-चित्र (शब्द-चित्र) हैं। यथा, 'वे आँखें', 'गाँव के लड़के', 'वह बुड्ढा', 'ग्रामश्री', 'सन्ध्या के बाद' इत्यादि। इन रेखा-चित्रों में पूर्ण स्वाभाविकता है, कवि ने रिटचिंग (शोभा-स्पर्श) नहीं किया है।

जहाँ कवि दर्शक ही नहीं भाविक भी हो उठा है, वहाँ रेखा-चित्र कवि के अन्तरंग से तरंगित भी हो गये हैं। ऐसे चित्रों में वास्तविकता और कल्पना (भाव-चेतना) का सम्मिश्रण है। 'दिवा-स्वप्न', 'रेखा-चित्र', 'खिड़की से' शीर्षक कविताओं में सुललित वस्तु-कला है।

'युगवाणी' में कवि ने छायावाद की काव्य-कला को नवीनता दी थी; 'ग्राम्या' की 'वे आँखें', 'वह बुड्ढा', 'सन्ध्या के बाद' और 'ग्राम श्री' शीर्षक कविताओं में द्विवेदी-युग की पद्य-कला को नवीनता दी है। इन पंक्तियों में द्विवेदी-युग के छन्द और शैली का नव-कैशोर्य है—

खड़ा द्वार पर लाठी टेके,
वह जीवन का बूढ़ा पञ्जर,
चिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी
हिलते हड्डी के ढाँचे पर।
उभरी ढीली नसें जाल-सी
सूखी ठठरी से हैं लिपटी
पतझर में ठूँठे तरु से ज्यों
सूनी अमर बेल हो चिपटी।
—('वह बुड्ढा')

शंख घंट बजते मन्दिर में
लहरों में होता लय-कम्पन,
दीप शिखा-सा ज्वलित कलश
नभ में उठ कर करता नीराजन।
माझी की मँड़ई से उठ
नभ-के-नीचे-नभ-सी धूमाली
मन्द पवन में तिरती
नीली रेशम की-सी हलकी जाली।
—('सन्ध्या के बाद')

इन पंक्तियों की जन-सुलभ भाषा भी ध्यान देने योग्य है— कितनी सरल, किन्तु कितनी सुन्दर!

'ग्राम्या' की कविताओं के लिए पन्त जी ने 'निवेदन' में लिखा है—"ग्राम जीवन में मिल कर, उसके भीतर से, ये अवश्य ही नहीं लिखी गयी हैं।" किन्तु 'ग्राम्या' की सरलता-स्वाभाविकता देख कर ऐसा नहीं कहा जा सकता। कवि पूर्णतः ग्राम-जीवन में समाया हुआ है। उसके चिन्तन का मृणाल-तन्तु गाँवों की मिट्टी और जल में मूलस्थ हो कर संस्कृति और सौन्दर्य के ऊर्ध्वमुख शतदल से सुशोभित है।

कवि अपनी कॉटेज ('नक्षत्र') की तरह 'ग्राम्या' की धरती पर रह कर भी उससे ऊपर सूक्ष्म भाव-जगत् में अवस्थित है। युग-प्रवास में भी वह अपने आवास (भाव-लोक) में है।

'नक्षत्र' कालाकाँकर के वनवास-काल में कवि का निवास-गृह है। 'ग्राम्या' की परिधि में उसका भी समावेश स्वाभाविक है। क्योंकि लोक-गीतों की भाव-भूमि में छायावाद के भावुक कवि का ही स्थान हो सकता है। कवि ने बड़ी ममता से 'नक्षत्र' को सम्बोधित किया है—

मेरे निकुञ्ज, नक्षत्र वास!
इस छाया-मर्मर के वन में
तू स्वप्न-नीड़-सा निर्जन में
है बना प्राण-पिक का विलास

आती जग की छवि स्वर्ण प्रात,
स्वप्नों की नभ-सी रजत रात,
भरती दश दिशि की चार वात,
तुझमें वन-वन की सुरभि-साँस !

'नक्षत्र' शीर्षक कविता की रचना पन्त जी ने सन् ३२ में की, इसके दो-ही एक वर्ष पहले 'गुञ्जन' प्रकाशित हुआ था। इस कविता की भाषा, शैली और संगीत में भी 'गुञ्जन' का अभिव्यञ्जन है।

'ग्राम्या' की अन्य रचनाएँ देखने से ज्ञात होता है कि छायावाद से प्रगतिशील युग में जा कर भी पन्त की काव्य-चेतना का ह्रास नहीं हुआ। 'ग्राम्या' की कई स्वगत कविताओं ('खिड़की से', 'रेखा चित्र', 'दिवा स्वप्न', 'आँगन से', 'याद', 'गुलदावदी') में कवि के एकान्त क्षणों का अन्तःस्पन्दन है। इन कविताओं में छन्द और भाषा द्विवेदी-युग की, शैली और भावानुभूति छायावाद की है। कहीं-कहीं भाषा भी छायावाद की चित्र-द्युति और प्राण-स्फूर्ति पा गयी है: यथा, 'किरणोज्ज्वल चल-कल ऊर्मि-निरत' तथा 'चपल पवन के पदाचार से अहरह स्पन्दित।' यहाँ छन्द में भी छायावाद का संगीत आ गया है।

'ग्राम्या' में कवि ने एक नया शब्द दिया है—'पी-खग।' कोयल के लिए गीत-खग की तरह चातक के लिए यह 'पी-खग' भी सार्थक और सुन्दर है।

भौतिक वाद से प्रभावित होते हुए भी कवि ने 'ग्राम्या' में छायावाद के भाव-जगत् को प्रतिष्ठित किया है। 'ग्राम्या' के 'श्यामल भूतल पर' भाव-जगत् 'नभ के चिर निर्मल नील फलक' की भाँति झुका हुआ है। 'युगवाणी' में कवि ने पृथ्वी को महत्त्व दिया था, 'ग्राम्या' में उसने पृथ्वी पर, जल पर आकाश को प्रच्छायित किया है—

चाँदी की चौड़ी रेती,
फिर स्वर्णिम गङ्गाधारा,
जिसके निश्चल उर पर विजड़ित
रत्नछाय नभ सारा !
—('रेखा चित्र')

भावानुभूति के लिए जीवन के उर्ध्वतल का सत्य चाहिए। अति यथार्थवादी दृष्टि से देखने पर वस्तुतत्त्व निःसत्त्व हो जाता है। 'दिवा स्वप्न' शीर्षक कविता में कवि ने इसी तथ्य का उद्घाटन किया है—

दिन की इस विस्तृत आभा में, खुली नाव पर,
आर-पार के दृश्य लग रहे साधारणतर।
केवल नील फलक-सा नभ, सैकत रजतोज्ज्वल,
और तरल बिल्लौर वेश्मतल-सा गंगाजल—
चपल पवन के पदाचार से अहरह स्पन्दित—
शान्त हास्य से अन्तर को करते आह्लादित।

छायावाद का भाव-सत्य भी उतना ही प्रत्यक्ष है जितना यथार्थ का वस्तु-सत्य। भाव-सत्य से ही वस्तु-सत्य सुशोभन हो सकता है, यह 'खिड़की से' शीर्षक कविता में चाँदनी की तरह स्पष्ट है।

काव्य की कोमलता और भाव-जगत् के एकान्त के लिए कवि का मन फिर लालायित हो उठा है—

प्रकृति-नीड में व्योम खगों के गाने गाऊँ,
अपने चिर स्नेहातुर उर की व्यथा भुलाऊँ।

'युगवाणी' में कवि प्रकृति से उदासीन था, 'ग्राम्या' के निसर्ग-लोक में फिर उसका प्राकृतिक अनुराग जग गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर प्रकृति भी मनुष्य की तरह वर्गों में सीमित-संकुचित जान पड़ती है, किन्तु यह स्थिति शाश्वत नहीं है। कवि की अन्तर्दृष्टि में वर्ग-मुक्त प्रकृति और वर्ग-रहित मनुष्य का यह प्रफुल्ल चित्र शोभायमान है—

नील गगन है : हरित धरा :
नवयुग : नव मानव जीवन।

सुहावनी रात

['कल्पना' के पिछले अङ्क में प्रकाशित "सुहावनी रात" का दूसरा अंश]

—डॉस्टॉय्वस्की

दूसरी रात

"अच्छा, तो आप बच गये !" उसने मेरे दोनों हाथ दबाते हुए कहा।

"मैं करीब दो घंटे से यहाँ हूँ; तुम नहीं जानतीं कि दिन भर मेरी क्या दशा रही है।"

"जानती हूँ, जानती हूँ ! लेकिन अब काम की बात करो। जानते हो, मै क्यों आयी हूँ ? इसलिए नहीं कि कल की तरह बेवकूफी की बातें करूँ ! मै कहती हूँ कि हम लोगों को अब कुछ अक्ल से काम लेना चाहिए। कल रात बड़ी देर तक मैं यही सब सोचती रही।"

"किस तरह—किस बात में अक्ल से काम लेना चाहिए ? मैं अपना पार्ट अदा करने को तैयार हूँ; लेकिन सचमुच यह जो कुछ हो रहा है, अभी इससे अधिक अक्ल की बात मेरे जीवन मे कभी नहीं हुई है।"

"सच ! सब से पहली बात यह है कि तुम इस तरह मेरा हाथ मत दबाया करो। दूसरी बात यह कि मैं बड़ी देर तक तुम्हारे बारे मे सोचती रही, और आज मुझे कुछ सन्देह हो रहा है।"

"और नतीजा क्या निकला ?"

"नतीजा ! नतीजा यह है कि हमको फिर शुरू से चलना होगा, क्योंकि आज मैं इसी नतीजे पर पहुँची हूँ कि मैं तुम्हें बिलकुल नहीं जानती। कल रात का मेरा व्यवहार बच्चों का सा, एक छोटी लड़की का सा, था। और यह सच है कि सारी खता मेरे हृदय की कमजोरी की है, यानी इस बात की कि मैं अपनी ही तारीफ़ करती रही, जैसा कि हर एक आदमी अपने व्यवहार का विश्लेषण करते समय करता है, और इसलिए, अपनी गलती सुधारने के लिए, मैंने यह निश्चय किया है कि पहले तुम्हारे बारे मे सब बातें अच्छी तरह मालूम कर लूँ। लेकिन, क्योंकि ऐसा और कोई नहीं है जिससे कुछ मालूम हो सके, इसलिए अपने बारे मे सब कुछ तुम्हें ही बताना पड़ेगा। अच्छा, यह बताओ कि तुम किस तरह के आदमी हो ? हाँ, जल्दी करो—शुरू करो—अपना सारा इतिहास मुझे बताओ।"

"मेरा इतिहास !" मै आश्चर्य से कह उठा, "मेरा इतिहास ! लेकिन यह तुमसे किसने कहा कि मेरा एक इतिहास है ! मेरा कोई इतिहास नहीं है........."

"तो तुम अब तक जिन्दा कैसे रहे, अगर तुम्हारा कोई इतिहास नहीं है !" उसने हँसते हुए कहा।

"बिलकुल बिना इतिहास के ! मैं तो, जिसे कहते हैं, अपने ही अन्दर आप रहता रहा हूँ,

मतलब यह कि बिलकुल अकेला—अकेला, हाँ, कतई अकेला। जानती हो, अकेले रहने का क्या अर्थ होता है?"

"लेकिन अकेले किस तरह? क्या तुम्हारा यह मतलब है कि तुम कभी किसी से नहीं मिले?"

"और नहीं, मिलता तो हूँ, जरूर; मगर फिर भी मैं अकेला हूँ।"

"क्यों, क्या तुम कभी किसी से बोलते नहीं?"

"सच पूछो तो किसी से नहीं।"

"फिर कौन हो तुम! ठीक-ठीक बताओ! ठहरो, मुझे सोचने दो; शायद जरूर ही मेरी तरह तुम्हारे एक नानी है। वह अन्धी है और मुझे कहीं जाने नहीं देती, इसीलिए मैं बात-चीत करना भी करीब-करीब भूल गयी हूँ। दो साल पहले मैंने कुछ शैतानी की थी। उसने देखा कि मुझे रोकना मुश्किल है, तो उसने मुझे बुलाया और अपने कपड़े से मेरा कपड़ा पिनों से टाँक लिया, और तभी से हम लोग कई-कई दिन तक इसी तरह बैठे रहा करते हैं। वह मोज़े बुनती है—अन्धी है तो क्या—, और मैं उसके पास बैठी सिलाई करती या ज़ोर-ज़ोर से पढ़ कर सुनाती रहती हूँ। एक अजीब-सी आदत है! दो साल से मैं उसके साथ पिनों से जुड़ी हुई हूँ......"

"हे ईश्वर! कैसी यातना है! लेकिन नहीं, मेरी ऐसी कोई नानी नहीं है।"

"अच्छा, अगर नहीं है तो फिर तुम घर पर क्यों बैठे रहते हो!......"

"सुनो, क्या तुम जानना ही चाहती हो कि मैं किस तरह का आदमी हूँ?"

"हाँ, हाँ!"

"हाँ, बिल्कुल ठीक-ठीक!"

"अच्छा तो सुनो! मैं एक 'क़िस्म', हूँ!"

"क़िस्म, क़िस्म! कैसी क़िस्म?" लड़की इतने ज़ोर से हँस कर बोल उठी जैसे उसे साल भर से हँसने का मौक़ा ही न मिला हो, "हाँ, तुमसे बात करने में बड़ा मज़ा आता है। देखो, इधर यह बैठने की जगह है, आओ बैठ जाएँ। इधर से कोई नहीं निकलता, कोई हमारी बातें नहीं सुनेगा और—अब अपना इतिहास शुरू कर दो। मुझसे बहाने करने से कोई फ़ायदा नहीं। मैं जानती हूँ कि तुम्हारा इतिहास ज़रूर है; मगर तुम मुझसे छिपा रहे हो। हाँ, पहले यह बताओ कि 'क़िस्म' क्या चीज़ होती है?"

"क़िस्म? 'क़िस्म' एक मौलिक चीज़ है, यानी एक अजीब आदमी!" उसकी बच्चों की-सी हँसी से अभिभूत हो कर मैंने कहा, "वह एक खास कैरेक्टर होता है। सुनो, तुम जानती हो, 'सपने देखना' किसे कहते हैं?"

"सपने! मेरा ख्याल तो ज़रूर है कि मैं जानती हूँ। मैं खुद ही सपने देखा करती हूँ। कभी-कभी जब मैं नानी के पास बैठी होती हूँ तो दिमाग़ में तरह-तरह की दुनिया-भर की बातें आती हैं। क्योंकि जब कोई सपने देखना शुरू कर देता है तो उसकी कल्पना किसी के साथ दौड़ लगाने लगती है—कभी मेरी शादी चीन के राजकुमार से हो जाती है!......कभी-कभी तो सपने देखना अच्छा लगता है! लेकिन भगवान् जाने! खास तौर से जब सपनों के अलावा और भी बातें

सोचने लगता है," अब की बार कुछ गम्भीरता के साथ लड़की ने कहा।

"वाह, क्या खूब! अगर कभी तुमने चीन के बादशाह से शादी की हो तो तुम मेरी बात अच्छी तरह समझ सकोगी। अच्छा, सुनो......लेकिन एक मिनिट, अभी मुझे तुम्हारा नाम भी नहीं मालूम।"

"आखिर याद तो आयी! तुम्हें तो इसके सोचने की कोई जल्दी न थी!"

"मेरी क़िस्मत! मेरे तो दिमाग़ में आया ही नहीं। जो कुछ भी था, मैं उसी मे इतना खुश था......"

"मेरा नाम नस्तेङ्का है।"

"नस्तेङ्का? और कुछ नहीं?"

"और कुछ नहीं! क्यो, क्या इतना तुम्हारे लिए काफ़ी नहीं है, अरे बेईमान?"

"काफ़ी क्यो नही? बल्कि यह तो बहुत ज्यादा है, बहुत ही ज्यादा, नस्तेङ्का; ओ करुणा की देवी, अगर शुरू से ही तुम मेरे लिए नस्तेङ्का ही रहो तो बहुत है।"

"बिलकुल ठीक! फिर?"

"अच्छा, तो नस्तेङ्का अब मेरा इतिहास सुनो, सड़ा-गला जैसा भी कुछ है।"

मैं उसके पास बैठ गया और गम्भीर मुख-मुद्रा बना कर इस तरह कहने लगा मानो किसी हस्त-लिखित पुस्तक से पढ़ रहा हूँ:—

"पीटर्सबर्ग मे बड़े-बड़े अजीब स्थान हैं, नस्तेङ्का, चाहे तुम इस बात को न जानती हो। ऐसा मालूम होता है कि इन स्थानो में वही सूर्य जो पीटर्सबर्ग के अन्य सभी लोगो के लिए चमकता है, नहीं झाँकता, बल्कि वह एक दूसरा ही सूर्य है जो खास तौर से उन्हीं विचित्र अँधेरे कोनो के लिए बना है, और वहाँ एक दूसरे ही प्रकार का प्रकाश डालता है। प्यारी नस्तेङ्का, इन स्थानों मे एक दूसरे ही ढंग का जीवन बिताया जाता है, ऐसा बिलकुल नही जैसा कि यहाँ हमारे चारों ओर लहरें ले रहा है; ऐसा नही जैसा कि हमारे इस गम्भीर, अति-गम्भीर, समय में हो रहा है; बल्कि जैसा शायद कहीं किसी अज्ञात प्रदेश में होता है। तो, वह जीवन एक विचित्र संमिश्रण है। कुछ तो नितान्त असम्भव, कल्पनातीत आदर्शों का और (अफ़सोस, नस्तेङ्का!) कुछ बिलकुल दक़ियानूसी, साधारण, यहाँ तक कि बेहूदा हरकतो का।"

"उफ़! बाप रे बाप! क्या भूमिका है! मै क्या सुन रही हूँ?"

"सुनो, नस्तेङ्का। (मालूम होता है, तुम्हे नस्तेङ्का कह कर पुकारने से कभी नही थकूँगा) क्या बताऊँ तुम्हे? कैसे अजीब लोग इन स्थानो मे रहते हैं—सब ड्रीमर्स, स्वप्न देखने वाले। अगर ड्रीमर का ठीक-ठीक लक्षण चाहती हो तो यह समझो कि वह इन्सान नही बल्कि बीच की किस्म का एक जीव होता है। अधिकतर वह किसी अँधेरे कोने में पड़ा रहता है मानो दिन के प्रकाश से छिपना चाहता हो, और वह जब एक बार किसी कोने मे जा छिपता है तो फिर सॉप की तरह उस का आदी बन जाता है, या, जो हो, इस विषय मे वह बहुत-कुछ उस विचित्र जीव की तरह होता है जो कि साथ ही साथ जन्तु और

मकान दोनो है और जिसे कछुआ कहते हैं । तुम क्या समझती हो कि क्यों वह अपनी उदास, भद्दी, हमेशा हरे रंग से रँगी और तम्बाकू की गंध से महकने वाली चहारदीवारी के अन्दर रहना ही पसन्द करता है ? यह क्या बात है कि जब इस (विचित्र) भलेमानुस के दो-चार परिचितों में से कोई एक मिलने आता है (और अन्त में वह सभी मित्रो से पिण्ड छुड़ा लेता है) तो यह बेचारा उससे ऐसा झुँझला कर, पल-पल चेहरा बदल कर और ऐसा घबरा कर मिलता है मानो उसने अपनी चहारदीवारी के अन्दर अभी-अभी कुछ अपराध किया हो, या वह जाली नोट बना रहा हो और या वह ऐसी कविता लिखने मे व्यस्त हो जिसे कि वह किसी पत्रिका मे एक बेनाम चिट्ठी के साथ भेजेगा जिसमें वह लिखेगा कि असली कवि मर चुका है और मित्र के नाते उस का कर्त्तव्य है कि उसकी रचनाओं को प्रकाशित करवा दे ? बताओ नस्तेङ्का, यह क्या बात है कि उन दोनों मित्रों में आसानी से बातचीत भी नहीं हो पाती ? हँसी के ठहाके क्यों नहीं लगते ? ऐसा क्यों है कि पसोपेश में पड़े उस आगन्तुक की जबान से जो कि अन्य अवसरों पर शायद बहुत ही हँसोड़, बातून है और स्त्रियों के और दूसरे दिलचस्प मामलों के बारे में बहुत मजेदार बाते करता है, इस समय एक भी हँसी-खुशी की बात नही निकलती ! और वह मित्र, जो कि शायद एक नया मित्र है और शायद पहली बार भेंट करने आया है— क्योंकि दूसरी भेंट शायद ही होगी और फिर कभी नही आयेगा— वह अपने हँसोड़पन के बावजूद भी (अगर उसमें कुछ भी है) अपने मेज़मान के उतरे हुए चेहरे को देख कर क्यो घबरा गया है, उसकी ज़बान मे क्यों ताला पड़ गया है ? और मेज़मान की हालत यह हो जाती है कि वह अपने मेहमान को खुश करने की हर छोटी-मोटी कोशिश करता है, परिस्थिति को सँभालने की, बातचीत में जान डालने की, सभ्य समाज के बारे में अपना ज्ञान जताने की और स्त्रियो के बारे में भी बातचीत छेड़ने की और किसी तरह अपनी झेप उतारने की। उसकी बड़ी-बड़ी कोशिशें सब बेकार हो जाती हैं, जब कि मेहमान की हालत वही होती है जो पानी के बाहर पड़ी मछली की, और यहाँ आने की भूल करके वह पछताता है। और जब वह मित्र चलने लगता है तो क्यों मुसकराता है और मन ही मन इस विचित्र जीव से मिलने कभी न आने की प्रतिज्ञा करता है, हालाँकि यह विचित्र जीव वास्तव में एक बहुत अच्छा आदमी है, और वह (मित्र) अपनी कल्पना को थोड़ी सी उड़ान भरने से नही रोक सकता क्योंकि कल्पना की दृष्टि में बातचीत करते समय उसके मेज़मान के चेहरे का भाव बहुत-कुछ उस बेचारे बिल्ली के बच्चे से मिलता-जुलता था जिसको बच्चो ने धोखे से पकड़ रक्खा है, और वह बेचारा बुरी तरह से उठाया पटका गया है, डराया-धमकाया और हर तरह से अपमानित और पीडित किया गया है और जो अन्त में बिलकुल परेशान हो कर कहीं अँधेरे में किसी कुर्सी के नीचे जा छिपता है क्योंकि वहाँ बैठ कर धीरे-धीरे फ़ुर्सत से अपने बालो को झाड़ता-पोंछता और जीभ से चाट-चाट कर अपने अपमानित चेहरे को दोनों पञ्जों से साफ़ करता है और इसके बड़ी देर बाद जीवन और प्रकृति की ओर, यहाँ तक कि हमदर्द नौकरानी के द्वारा रक्खे हुए मालिक की मेज़ पर से बचे-खुचे भोजन के टुकड़ो की ओर भी एक बार क्रुद्ध दृष्टि से देखता है ?"

"ठहरो", नस्तेङ्का, जो कि अब तक स्तब्ध हो कर मेरी बाते सुन रही थी, आँखे खोल कर

और अपना छोटा सा मुँह खोल कर बीच मे ही बोली, "सुनो, मुझे बिल्कुल नही मालूम कि यह सब क्यों हुआ और क्यों तुम मुझसे ये सब बेकार सवाल कर रहे हो; मैं बस इतना जानती हूँ कि यह सब घटना ज्यो की त्यो तुम्हारे साथ हुई होगी।"

"बेशक", अत्यन्त गम्भीर चेहरा बना कर मैंने जवाब दिया।

"अच्छा तो, जब कोई शक ही नहीं है तो कहे जाओ," नस्तेङ्का ने कहा, "क्योकि मुझे यह जानने की बहुत इच्छा है कि किस तरह इसका अन्त होगा।"

"तुम जानना चाहती हो नस्तेङ्का, कि हमारा नायक, अर्थात् मै— क्योकि इन समस्त व्यापारो का नायक बन्दा ही था— अपने उस कोने में क्या करता था? तुम जानना चाहती हो कि मेरा दिमाग़ क्यो फेल हो गया और एक मित्र के अचानक आ जाने से मैं दिन भर क्यो परेशान रहा? तुम जानना चाहती हो कि जब मेरे कमरे का दरवाज़ा खुला तो मैं क्यों चौंक पड़ा, क्यों झेपने लगा, क्यों मै अपने मेहमान की ख़ातिर नहीं कर सका और क्यो मै अपने ही आतिथ्य के भार के नीचे दब गया?"

"हाँ, हाँ, क्यों?" नस्तेङ्का ने कहा, "यही तो बात है। सुनो। वर्णन तो तुम बहुत ही अच्छी तरह कर रहे हो, लेकिन क्या तुम कुछ कम अच्छी तरह वर्णन नही कर सकते? तुम इस तरह कह रहे हो जैसे किसी किताब मे से पढ़ कर सुना रहे हो!"

"नस्तेङ्का," मैंने दृढ और रोबदार स्वर में बड़ी मुश्किल से हँसी को रोकते हुए कहा, "प्यारी नस्तेङ्का, मै जानता हूँ कि मै बहुत अच्छा वर्णन कर रहा हूँ, मगर माफ़ करना, मैं नहीं जानता कि और किस तरह वर्णन करूँ। इस समय, प्यारी नस्तेङ्का, इस समय मैं बादशाह सुलेमान की प्रेतात्मा के समान हूँ-- जो कि एक हज़ार वर्ष तक अपने घड़े मे सात ताले मे बन्द रहा और जब इतने दिन के बाद आख़िर वे सात ताले तोड़ कर उसे निकाला गया था। इस शुभ क्षण मे, नस्तेङ्का, जब कि इतने लम्बे विच्छेद के बाद आख़िर हमारा मिलन हुआ है— कारण, मैं तुम्हे युग-युगान्तर से जानता हूँ, नस्तेङ्का, क्योंकि युगो से मै किसी की खोज मे हूँ, और यही पहचान है कि मैं तुम्ही को खोज रहा था, और यह विधि का विधान था कि अब हमारा मिलन हो जाए— इस समय मेरे मस्तिष्क के हज़ारों द्वार खुल गये है और अब मुझे शब्दो का दरिया बन कर बहने दो, नही तो मेरा दम घुट जाएगा। इसलिए मेरी तुमसे यह प्रार्थना है कि बीच मे मुझे रोको मत, नस्तेङ्का, बल्कि तुम नम्रता और शिष्टाचार के साथ सुने जाओ, नही तो मै चुप हो जाऊँगा।"

"न, न, न, बिलकुल नहीं! तुम कहे जाओ, मै एक शब्द भी न कहूँगी।"

"अच्छा, तो कहता हूँ। दिन भर मे एक घंटा समय ऐसा है जो मुझे बहुत अच्छा लगता है, मित्र नस्तेङ्का। यह वह घंटा है जब कि दिन भर का सारा कारोबार, सब काम-काज, सब ड्यूटी बन्द हो जाती है और जब सब लोग अपने अपने घरो की ओर भागते हैं, खाना खाने, सोने और आराम करने के लिए और रास्ते मे और-और दिलचस्प बाते, शाम के बारे मे, रात के बारे में और अपने छुट्टी के समय के बारे में, तरह-तरह की बाते, करते जाते हैं। ठीक इसी समय हमारी

कहानी का नायक नस्तेङ्का—मुझे अपनी कहानी अन्य पुरुष की तरह कहने दो, क्योंकि प्रथम पुरुष में कहने में बड़ी शर्म मालूम होती है—हाँ, तो ठीक इसी समय हमारा नायक जो खुद भी काम करता था, औरों के पीछे-पीछे चला जा रहा था। लेकिन हर्ष की एक विचित्र अनुभूति ने उसके पीले, थके-मादे चेहरे मे परिवर्तन कर दिया। उसने ध्यान से पीटर्सबर्ग के शीतल आकाश पर धीरे-धीरे मन्द पड़ते हुए सान्ध्य प्रकाश की ओर देखा। मेरा यह कहना कि उसने देखा, झूठ है, उसने उसकी ओर देखा नहीं, बल्कि यों कहो कि उड़ती नज़र डाली, जैसे कि वह बिल्कुल थका हो और किसी दूसरे मनोरञ्जक विषय को सोचने में लगा हो और अपने चारों ओर किसी भी चीज पर नजर डालने की उसे फुर्सत ही न हो। वह खुश इस बात पर था कि जिस काम से उसे घृणा थी उससे दूसरे दिन तक के लिए छुट्टी मिल गयी थी और वह ऐसा ही प्रसन्न था जैसा कोई स्कूली लड़का खेल और शैतानी करने के लिए क्लास से छूट कर होता है। ज़रा उसकी तरफ़ देखो, नस्तेङ्का; तुम देखोगी कि इस खुशी की भावना का उसकी थकी, दुर्बल शिराओं पर और उसकी अस्थिर विचारधारा पर अभी से प्रभाव पड़ रहा है। देखो, वह कोई बात सोच रहा है......खाने की बात, तुम्हारा ख्याल है ? शाम के बारे में ? वह इस तरह किस चीज़ की ओर देख रहा है ? क्या वह रोबदार चेहरे वाले उन भद्र पुरुष की ओर देख रहा है जो कि उस घोड़ा-गाड़ी में बैठी उधर जाने वाली भद्र महिला को इतने सुन्दर ढङ्ग से नमस्कार कर रहे हैं ? नहीं, नस्तेङ्का; अब ये सब छोटी-छोटी बातें उस के लिए क्या हैं ! इस समय वह अपने व्यक्तिगत जीवन का धनी है; वह एकाएक धनी हो गया है, और यह एक निरर्थक बात नहीं है जो मन्द पड़ता हुआ सूर्यास्त अपनी विदा की वेला की किरणें उसके सामने इतने आह्लाद से भर कर डाल रहा है और उसके पिघले हुए दिल से असंख्य भावनाओं को बाहर ला रहा है। दूसरे समय जिस सड़क पर की छोटी से छोटी चीज़ों पर उसका ध्यान जाता था, उस सड़क तक को वह शायद ही देख रहा है। और अब कल्पना देवी ने (अगर तुमने ज़ुकोव्स्की का अध्ययन किया है, प्यारी नस्तेङ्का) अपने अद्भुत कुशल हाथ से सुनहरा ताना पूर दिया और उस पर अद्भुत जादू-भरे जीवन के बूटे बुन दिये—और कौन जाने, शायद उसके कौशल-पूर्ण हाथ ने उस बढ़िया कंकरीट के फुट-पाथ पर से जिस पर कि वह चला जा रहा था, उठा कर सातवें आसमान पर पहुँचा दिया हो ? ज़रा उसे अब रोक कर तो देखो, ज़रा उससे अचानक पूछो कि वह इस समय कहाँ खड़ा है, किन सड़कों पर जा रहा है—तो शायद उसे कुछ भी याद न होगा, न वह कहाँ जा रहा है, न कि वह इस समय कहाँ पर खड़ा है और झुंझला कर, लाल हो कर अपनी झेंप उतारने के लिए वह कुछ झूठी बात कह देगा। इसीलिए वह चौंक उठता है, चिल्ला उठता है और त्रस्त-भयभीत हो कर चारों ओर देखता है जब कि कोई वृद्ध महिला फुटपाथ के बीचोबीच उसे रोक कर अपना रास्ता पूछती है। परेशानी के कारण नाक-भौंह चढ़ा कर वह आगे बढ़ जाता है और इस बात का उसे ख्याल भी नहीं होता कि कई एक राहगीर उसे घूम-घूम कर देख चुके हैं और मुसकरा चुके हैं और एक छोटी लड़की उसके रास्ते से हट कर उसके चौड़े मुँह की संचित मुसकान को और उस की भावभङ्गियों को आँखें फाड़ कर देखती है और जोर का ठहाका लगाती है। लेकिन कल्पना अपनी क्रीडापूर्ण उड़ान में बुढ़िया को, राहगीरों को, हँसने वाली

लड़की को ओर फाण्टेङ्का मे अपनी नावो पर रात बिताने वाले किसानो को (मान लो कि हमारा नायक उस समय नहर के किनारे ही चला जा रहा है) सबको पकड़ लेती है, और सब लोगो को, सब चीजो को ले कर उसी पर्दे मे बुन डालती है जैसे मकड़ी अपने जाल मे मक्खी को पकड़ कर कसती है और विचित्र आदमी को होश तभी आता है जब वह मस्तिष्क का काम करने के लिए बहुत सी नयी-नयी चीजे इकठ्ठी करके अपनी आरामदेह गुफा मे लौट आता है, आ कर बैठ जाता है और खाना भी खा लेता है और जब मेट्रोना (उसकी नौकरानी-सदा चिन्तित और उदास रहने वाली) मेज साफ कर के उसका पाइप उसके हाथ मे थमा देती है; तब उसे होश आता है और वह चकित हो कर याद करता है कि वह खाना खा चुका है, हालाँकि उसे कुछ भी मालूम नही कि यह सब कैसे हुआ। कमरे मे अँधेरा हो चुका है; उसका चित्त उदास और खाली है, कल्पनाओं का समस्त राज्य उसके आस-पास टुकडे-टुकड़े हो कर बिखर जाता है और उसका चिह्न तक शेष नही रहता, और वह एक स्वप्न के समान उतराता जाता है और उसे स्वयं याद नही रहता कि वह क्या स्वप्न देख रहा था। लेकिन एक अस्फुट फुरहरी धीरे से हृदय को हिला देती है और उसमे एक टीस पैदा कर देती है, कोई एक नयी वासना, प्रलोभन दे कर उस के विचारो को छेड़ती और चचल कर देती है, और अदृश्य रूप से ढेरो नयी कल्पनाओ को उभार देती है। उस छोटे-से कमरे मे पूर्ण शाति का राज्य है; एकान्तवास और बेकारी कल्पना को प्रोत्साहन देते है: वह धीरे-धीरे सुलग कर सूँ-सूँ कर रही है—जैसे केतली मे खौलने वाला पानी, जिस से बुड्ढी मेट्रोना पास के रसोई-घर मे चुपचाप टहलती हुई कॉफ़ी बना रही है। बस, वह एकाएक पूरे ज़ोर के साथ उड़ने लगती है; और निरुद्देश्य कहीं से उठाई हुई किताब तीन पेज पूरे करने से पहले ही मेरे ड्रीमर के हाथ से गिर जाती है। उसकी कल्पना फिर जागती है और अपना काम शुरू कर देती है और फिर एक नयी दुनिया, एक नया लुभाने वाला जीवन नये-नये दृश्य उसके सामने खड़े कर देता है। एक नया स्वप्न—नया आनन्द! कोमल, मादक विष का एक नया स्रोत! वास्तविक जीवन उसके लिए क्या है? उसकी दुश्चरित्र आँखों में हम लोग, तुम और मै, नस्तेङ्का, इतनी जड़ता, मन्दता और निःसारता से जीवन बिताते है; उसकी दृष्टि में हम सब अपने भाग्य से इतने असन्तुष्ट हैं, अपने जीवन से इतने थके हुए है! और, सचमुच, देखो पहली नज़र मे हर चीज़ कैसी रूखी, उदास लगती है, जैसे हममे से कुछ मनहूस बदमिजाज लोग होते है......बेचारे! हमारा ड्रीमर सोचता है। और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वह ऐसा सोचता है। ज़रा इन जादू के महलों को देखो जो इतने आकर्षण के साथ, इतने मनमाने ढङ्ग से और इतनी लापरवाही से और आज़ादी से जादू की एक जीवित तसवीर बना कर उसके सामने खड़े होते है, वह तसवीर कि जिसमें सब से आगे, सब से प्रमुख दीखने वाला और कोई नही, स्वयं हमारे ड्रीमर साहब बहादुर हैं। देखो, कैसी-कैसी, नाना प्रकार की, विचित्र घटनाएँ! आनन्द से परिपूर्ण स्वप्नों की कैसी अनन्त भीड़ है! तुम शायद पूछो कि वह क्या स्वप्न देख रहा है। इसके पूछने की क्या ज़रूरत है?—क्यों, सब कुछ देखता है, ...उस कवि के भाग्य की बात जिसे पहले किसी ने न जाना, फिर जिसका सम्मान हुआ; वह देखता है, होफमैन के साथ दोस्ती हो गयी है, वह सेण्ट बार्थोलेम्यू की रात्रि और डायना वॅर्नोन को

प्रेम के गंभीरतम आनन्द और दुःसह दुःख उसके हृदय मे विराजमान रहते है। ज़रा उसकी ओर देखो तो तुम्हे यकीन हो जाएगा! क्या उसे देख कर तुम विश्वास करोगी प्यारी नस्तेङ्का, कि जिसे वह अपने स्वप्नों मे प्रेम करता है उसे उसने कभी नहीं देखा है? क्या यह संभव है कि उसने उसे धोखे-बाज सपनों में ही देखा है और उसकी सारी वासना एक स्वप्नमात्र है? निश्चय ही वे दोनो बरसों, साथ-साथ, हाथ से हाथ मिला कर, दुनिया से दूर, एकदम अलग, एक दूसरे के जीवन मे जीवन मिला कर रह चुके है। और निश्चय ही जब बिदा की घड़ी आयी होगी तब वह उसके वक्षस्थल पर रोती-सिसकती पड़ी होगी, और ऊपर क्रुद्ध आकाश मे तूफान गरजता होगा और हवा ने उसकी काली बरोनियों के आँसुओ को सुखा कर साफ कर दिया होगा— पर उसे न तूफान की सुध रही होगी, न हवा की! क्या यह सब स्वप्न हो सकता है— और वह बगीचा, कैसा वीरान, छोटी छोटी जङ्गली घासों से भरी रविशें, कैसा सुनसान, ऊजड़ हो गया होगा, वही बगीचा जहाँ वे साथ-साथ इतने आनन्द मे घूमा करते थे, जहाँ उन्होंने अपनी आशाओं को पाला था, इतने दिनों तक एक-दूसरे को प्यार किया था, 'इतने दिनो तक और इतने चाव से'? और वह पुराना बाप-दादे का अजीब मकान जहाँ उस बेचारी ने अपने बुड्ढे खूसट स्वामी साथ, जो सदा चुप रहता था, जिससे उन्हें डर लगता था, जीवन के कई साल बिताये थे और जहाँ वे भयभीत छोटे बच्चे की भाँति अपने प्यार को एक-दूसरे से छिपाया करते थे? उन्होंने क्या कुछ यातनाएँ न सहीं, क्या विभीषिकाएँ नहीं देखीं! उनका प्रेम कितना अबोध, कितना पवित्र था, और कितने (मुझे कहने की ज़रूरत नहीं, नस्तेङ्का) लोग जलते थे! और हे ईश्वर! तब बाद में वह उससे मिला, ज़रूर मिला, तो कहाँ? दूर, बहुत दूर, अपने देश के समुद्र-तट से दूर, किसी दूसरे आकाश की छाया मे, दक्षिण के उष्ण प्रदेश मे, देवो के से नित्यधाम में, नृत्य और संगीत से चकाचौंध राजप्रासाद में, पलाज्जो संगीत के बीच [निश्चय ही पलाज्जो मे होगा] उसने देखा उसे; देखा कि प्रकाश के समुद्र में डूबी हुई, गुलाब और मेहदी की मालाओं से लदी बाल्कनी पर वह खड़ी है, और जब वह उसे पहिचान लेती है और चेहरे का नक़ाब उतार कर फेकती और धीरे से फुसफुसा कर कहती है, 'मैं आज़ाद हूँ', और काँपती हुई आ कर उससे लिपट जाती है और खुशी की एक चीख़ के साथ, एक-दूसरे से लिपट कर, क्षण भर में वे अपना सारा दुःख, विरह की सारी यातनाएँ भूल जाते हैं और भूल जाते है उस मनहूस मकान को, उस बुड्ढे को, दूर देश के उस उदास बग़ीचे को और उस पत्थर की शिला को जिस पर अन्तिम प्यार-भरे चुम्बन के बाद उसने अपने को उसकी पीड़ा और निराशा से शिथिल भुजाओं मे से छुड़ा कर अलग कर लिया था......ओह नस्तेङ्का, तुम को यह मानना पड़ेगा कि ऐसे मे वह किस तरह चौक पड़ेगा, कितना चक्कर में पड़ेगा, ठीक जैसे कि पड़ोसी के बाग़ से चुरा कर जेब में सेब रक्खे हुए कोई लड़का; अगर इस वक्त तुम्हारा कोई मेहमान जिसके आने की कोई आशा नहीं है, जो एक लम्बा-चौड़ा, हँसमुख, मज़ाकिया आदमी है, तुम्हारे कमरे का दरवाजा खोल देता है और ऐसे चिल्ला कर कहता है जैसे कुछ हुआ ही नहीं है— 'मेरे प्यारे दोस्त, मैं अभी इसी मिनट पाव-लोस्क से चला आ रहा हूँ।' हे भगवान्! बूढ़े काउण्ट का देहान्त हो चुका है और अनिवर्चनीय सुख की घड़ी आ पहुँची है—और ऐसे में लोग पावलोस्क से चले आ रहे हैं!"

अपनी करुण प्रार्थना समाप्त करके मैं बड़े शान्त ढंग से चुप हो गया। मुझे याद है कि मेरे अन्दर ज़बर्दस्त हँस पड़ने की उत्कट इच्छा हो रही थी, क्योंकि मैं यह महसूस करने लगा था कि एक उथल-पुथल मेरे अन्दर कुलबुला रहा है, मेरे गले में कोई चीज़ अटक रही है, मेरी ठोड़ी ऐंठने लगी है और मेरी आँखें अधिकाधिक गीली होती जा रही हैं।

मैं सोच रहा था कि नस्तेंका, जो अपनी चतुर आँखें खोले गौर से मेरी कथा सुन रही थी, बच्चों की तरह खुशी से हँस पड़ेगी; और मुझे अफ़सोस हो रहा था कि मैंने यहाँ तक बात बढ़ा दी कि जो चीज़ बहुत अरसे से मेरे मन में खुदबुद कर रही थी और जिसे मैं लिखी हुई किताब की तरह पढ़ कर सुना सकता था, उसे मैंने व्यर्थ ही वर्णन किया—केवल इसलिए कि मैं बहुत पहले ही अपने बारे में अपना फ़ैसला दे चुका था और अब मैं उसे बिना पढ़े हुए, बिना अपना अपराध स्वीकार किये हुए रह नहीं सकता था, चाहे इसे कोई न समझे; मगर मुझे यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वह चुप है, और फिर थोड़ी देर बाद उसने धीरे से मेरा हाथ दबाया और कोमल सहानुभूति के स्वर में कहा—

"तुम्हारा सारा जीवन तो इसी तरह नहीं बीता है न ?"

"सारा जीवन, नस्तेंका," मैंने कहा, "सारा जीवन, इसी तरह, और मुझे ऐसा लगता है कि मैं अन्त तक ऐसा ही रहूँगा।"

"नहीं, यह ठीक नहीं है," उसने घबरा कर कहा, "यह हर्गिज़ नहीं हो सकता; और हाँ, शायद इसी तरह मेरी ज़िन्दगी नानी के पास बैठे-बैठे बीत जायगी। क्या तुम जानते हो कि इस तरह रहना बिल्कुल ठीक नहीं है ?"

"जानता हूँ, नस्तेंका, जानता हूँ!" मैं अपने भावों को और न रोक सका और चिल्ला उठा, "और अब मैं सब दिन से ज़्यादा इस बात को समझ रहा हूँ कि मैं अपने जीवन के सब से अच्छे साल खो चुका हूँ! और अब मैं और भी ज़्यादा दर्द के साथ इस बात को जान रहा हूँ और महसूस कर रहा हूँ, क्योंकि मैंने समझ लिया है कि ईश्वर ने मुझे यह सब बताने और दिखाने के लिए तुम्हें भेजा है, मेरी देवी! अब इस समय जब कि मैं तुम्हारे पास बैठा तुमसे बातें कर रहा हूँ, भविष्य के बारे में सोचना मेरे लिए एक भयावनी-सी बात है, क्योंकि भविष्य में—फिर वही अकेलापन, फिर वही निरर्थक, निरुद्देश्य जीवन है; और मेरे पास फिर स्वप्न देखने को भी क्या रहेगा; जब कि तुम्हारे पास बैठ कर आज वास्तव में इतना सुख उठा चुका हूँ! ओह, तुम्हारा कल्याण हो, अच्छी लड़की, कि पहले ही तुमने मुझे अपने पास से भगा नहीं दिया और मुझे यह कहने का मौका दिया कि कम से कम दो शाम तो मैं ज़िन्दा रहा।"

"नहीं, नहीं!" नस्तेंका चिल्ला कर बोली, और उसकी आँखों में आँसू छलक रहे थे! "नहीं, अब इस तरह हर्गिज़ न रहना चाहिए; हम इस तरह हर्गिज़ जुदा न होंगे! दो शाम से क्या होता है ?"

"ओह, नस्तेंका, नस्तेंका! जानती हो, तुमने मेरा अपने-आप से कितना समझौता करा दिया है? जानती हो कि अब मैं अपने को इतना मनहूस नहीं कहूँगा जितना पहले अकसर कहा करता

था ! जानती हो कि शायद मैं अब अपने जीवन के अपराध और पाप के ऊपर दुःख मनाना छोड़ दूँगा ? क्योंकि ऐसा जीवन एक अपराध भी है और एक पाप भी। और यह मत समझना कि मै किसी तरह की अत्युक्ति कर रहा हूँ, ईश्वर के लिए ऐसा न समझना, नस्तेङ्का; कारण, कभी-कभी मैं इतना दुःखी हो जाता हूँ, इतना दुःखी ······क्योंकि ऐसे वक्त मुझे ऐसा लगने लगता है कि मैं वास्तविक जीवन मे रहना शुरू ही नहीं कर सकता, क्योंकि मुझे ऐसा लगता है कि वास्तविकता से, सत्य से मेरा अब स्पर्श तक नहीं रह गया है, उसका संस्कार तक मेरे अन्दर से जाता रहा है; क्योंकि आखिर मैंने अपने को ही कोसा है; क्योंकि असम्भव कल्पनाओं की लम्बी रातों के बाद मेरे होश के भी क्षण आते है, भयंकर क्षण ! साथ ही अपने चारों ओर के जीवन मे भीड़ का शोर-गुल और चिल्ल-पों सुनाई देती है; देखता हूँ, सुनता हूँ, लोग वास्तविक जीवन में रह रहे है; देखता हूँ कि उनका जीवन अभिशप्त नहीं है, उनका जीवन एक स्वप्न की तरह, एक चलचित्र की तरह गायब नहीं हो जाता; उनका जीवन चिर-नवीन होता रहता है, उसमे चिरयौवन रहता है और उसका एक घंटा भी दूसरे घंटे की तरह नहीं गुजरता; दूसरी ओर कल्पना इतनी निष्प्राण है, इतने भद्दे ढंग से जी उबा देने वाली और इतनी आसानी से बिगड़ने वाली है–छायाओं की दासी, विचारों की गुलाम, जरा-जरा से बादल के उन टुकड़ों की गुलाम, जो सूर्य को ढँक लेते हैं और पीटर्सबर्ग के असली बाशिन्दे के दिल को, जो स्वभावतः सूर्य का प्रेमी है, उदास कर देते हैं—और जब मन उदास है तब कल्पना क्या है ? ऐसा लगता है कि कभी समाप्त न होने वाली यह कल्पना अब थक गयी है और बराबर काम करते रहने से पस्त हो गयी है, क्योंकि अब बड़प्पन धीरे-धीरे आ रहा है और पुराने आदर्श पीछे छूट रहे हैं; वे टुकड़े-टुकड़े हो कर धूल मे मिल रहे हैं; अगर कोई दूसरा जीवन है ही नहीं तो इन्हीं टुकड़ों से बनाना पड़ेगा। और साथ ही दूसरी ओर आत्मा कुछ दूसरी ही चीज के लिए लालायित और व्याकुल रहती है ! और ड्रीमर बेचारा व्यर्थ ही पुराने स्वप्नों को ले कर परेशान होता है मानो वह उनकी बुझी हुई राख मे ढूँढ़ता फिरता है कि एक चिनगारी मिल जाए और वह उसे सुलगा कर फिर एक बार प्रज्वलित कर सके और उसकी गर्मी से फिर एक बार अपने ठण्ड से ठिठुरे हुए हृदय को गरम कर सके, और फिर एक बार उसके अन्दर उन सब बातों को जगा सके जो इतनी मीठी लगती थी, जो उसके हृदय को स्पर्श करती थीं, जो उसके रक्त में उबाल पैदा कर देती थी, उसकी आँखों से आँसू खींच कर बाहर ले आती थी और इतनी अच्छी तरह उसे धोखा दे देती थीं। जानती हो, नस्तेङ्का, कि मैं किस हद पर पहुँच चुका हूँ ? जानती हो कि अब मैं अपनी ही अनुभूतियों की वर्षगाँठ मनाने को बाध्य हो रहा हूँ, उसी वस्तु की वर्षगाँठ जो कभी इतनी मधुर थी, जिसका वास्तविक अस्तित्व कभी था ही नहीं– क्योंकि उसकी वर्षगाँठ उन्हीं पागलपन के, छाया के समान, स्वप्नों की स्मृति मे अङ्कित रहती है—और वर्षगाँठ इसीलिए मना रहा हूँ कि अब उन पागलपन के स्वप्नों का आस्तित्व भी नहीं रहा और क्योंकि उनको सार्थक करने के लिए मेरे पास है ही क्या; जानती हो, स्वप्न भी यों ही नहीं आ जाते ? मुझे अपने वर्तमान का निर्माण अपने अमिट अतीत के सुर मे मिला कर करते हुए बहुत अच्छा लगता है, और मैं अकसर एक छाया की भाँति निरुद्देश्य, उदास और दुःखी हो कर पीटर्सबर्ग की

सड़कों और तंग चक्करदार गलियों में घूमता रहता हूँ। कैसी-कैसी स्मृतियाँ है! मसलन यह याद करना कि यहीं पर ठीक एक साल पहले, ठीक इसी समय, इसी घंटे में, इसी फुटपाथ पर मैं आज की ही तरह अकेला, आज की ही तरह खिन्नमन घूमता फिर रहा था। और याद आता है कि तब के स्वप्नों में उदासी थी; दुःख था, और हालाँकि अतीत वर्तमान से कुछ अच्छा नही था, फिर भी लगता है कि जो हो, वह वर्तमान से ज़रूर कुछ अच्छा था और जीवन कुछ अधिक शान्तिपूर्ण था और जो बुरे विचार अब मेरे दिमाग़ में घूमते रहते हैं वे उस समय नहीं आते थे; लगता है कि उस समय अन्तःकरण की यह भर्त्सना नही थी—वह अस्पष्ट और दबी हुई भर्त्सना जो कि अब मुझे न दिन को चैन लेने देती है, न रात को। और वह [मैं] अपने आप से पूछता है कि वे सपने अब कहाँ है! और वह सिर हिलाता है और कहता है, कितनी तेज़ी से ये बरस गुज़र गये! और वह फिर अपने-आप से पूछता है कि इन बरसो का उसने क्या उपयोग किया? कहाँ तुमने अपने जीवन के सब से अच्छे दिन गाड़ दिये हैं? क्या तुम जिये भी हो या नहीं? देखो, वह अपने आप से कहता है, देखो, दुनिया कितनी ठंडी होती जा रही है। कुछ और बरस गुज़रने दो, और बस; उसके बाद उदास एकाकीपन आ घेरेगा; उसके बाद अपने सूखे पैरो पैर लड़खड़ाता बुढ़ापा आ जाएगा और उसके बाद कष्ट और घोर अन्धकार। तुम्हारी कल्पना की दुनिया बीमार की भाँति पीली पड़ जाएगी, तुम्हारे सपने सूख जाएँगे, मर जाएँगे और पेड़ो से पीले पत्ते जैसे गिरते हैं वैसे ही गिर जाएँगे—ओह नस्तेङ्का! बड़ा उदास लगेगा अकेले रह जाना, बिल्कुल अकेले और दुःख मनाने तक के लिए कुछ नहीं रहेगा—कुछ नहीं, कुछ भी नही... क्योंकि वह सब, जो तुमने खो दिया है, वह सब कुछ नही था, वह एक मूर्खतापूर्ण, साधारण 'नास्ति' था, स्वप्नों के सिवाय और कुछ कभी था ही नही!"

"अब बस करो, मेरी भावनाओं से मत खेलो," नस्तेङ्का ने एक आँसू को जो कि गाल पर ढुलक रहा था, पोछते हुए कहा, "अब यह सब खत्म हो चुका। अब हम दोनो साथ-साथ रहेंगे। अब मेरा जो कुछ भी हो, हम कभी अलग न होंगे। सुनो; मैं एक सीधी-सादी लड़की हूँ और ज्यादा पढ़ी-लिखी नही हूँ, हालाँकि नानी ने मुझे पढ़ाने के लिऐ एक मास्टर एक बार रक्खा था, मगर सचमुच मै तुम्हारी हालत को समझ रही हूँ क्योंकि जो कुछ तुम सुना रहे हो वह मैं खुद भी भुगत चुकी हूँ जब कि नानी ने पिन लगा कर मुझे अपने साथ सी रक्खा था। यह ज़रूर है कि तुमने जिस तरह वर्णन किया है उस तरह मैं न कर पाती; मैं ज्यादा शिक्षित नहीं हूँ," उसने संकोच-पूर्वक एक बार फिर कहा, क्योंकि वह अभी भी मेरे करुण भाषण और वर्णन शैली के प्रभाव में थी; "लेकिन मैं इस बात से बहुत खुश हूँ कि तुमने मुझसे कुछ छिपा कर नही रक्खा। अब मैं तुम्हें अच्छी तरह जानती हूँ, तुम सभी को। और जानते हो, क्या? मै भी तुम्हे अपना इतिहास सुनाना चाहती हूँ, सब कुछ बिना कुछ छिपाये, और उसके बाद तुम मुझे सलाह देना। तुम बड़े चतुर हो; क्या वादा करोगे कि मुझे सलाह दोगे?"

"ओह, नस्तेङ्का," मै बोल उठा, "हालाँकि मैंने कभी किसी को सलाह नही दी है, अच्छी

सलाह की तो बात ही क्या, फिर भी मैं अब देख रहा हूँ कि अगर हम इसी तरह करते चलें तो बहुत अच्छा होगा और तब हम दोनों एक दूसरे को बहुत अच्छी सलाह काफी तादाद में दे सकेंगे ! अच्छा, सुन्दरी नस्तेङ्का, किस तरह की सलाह तुम चाहती हो ? खुल कर कहो; इस समय मैं इतना खुश और सुखी हूँ, इतना साहसी और होशहवास मे हूँ कि शब्द ढूँढने मे मुझे अभी कुछ भी कठिनाई नहीं होगी।"

"नही, नहीं !" नस्तेङ्का ने बीच में मुझे रोक कर हँसते हुए कहा, "मै सिर्फ अच्छी सलाह ही नही चाहती, मैं तो तुम से एक भाई की सी हार्दिक, सहानुभूति-पूर्ण राय चाहती हूँ, मानो हमेशा से तुम्हें मुझसे इतना ही प्रेम रहा हो !"

"मंजूर, नस्तेंका, मंजूर !" मैं खुशी से चिल्ला उठा; "और अगर मै बीस बरस से तुम्हें प्यार करता होता तो भी शायद इतना न करता जितना इस वक्त कर रहा हूँ।"

"हाथ बढ़ाओ," नस्तेका बोली।
"यह लो," हाथ बढ़ाते हुए मैने कहा।
"और अब मेरी कहानी शुरू होती है !"

नस्तेंका का इतिहास

"मेरी आधी कहानी तो तुम जानते ही हो यानी यह कि मेरी एक बुढ़िया नानी है..."

"मगर बाकी आधी कहानी इतनी ही छोटी है, तो..." मैंने हँस कर बीच मे ही कहा।

"अच्छा, अब चुपचाप सुनो। सब से पहले यह शर्त मान लो कि बीच मे मुझे टोकना मत, नहीं तो शायद मेरा दिमाग गड़बड़ी मे पड़ जाएगा ! अच्छा, चुपचाप सुनो अब।

"मेरे एक बुड्ढी नानी है। मै जब छोटी बच्ची थी, तभी से उसके पास हूँ, क्योंकि मेरे माता-पिता मर चुके है। यह मान लेना पड़ेगा कि मेरी नानी किसी ज़माने में पैसे वाली थी, क्योंकि अब भी वह प्रायः अच्छे दिनों की याद कर लेती है। उसने मुझे फ्रेंच भाषा पढ़ायी और फिर मेरे लिए एक टीचर रख दिया। जब मैं पन्द्रह साल की थी (और अब मैं सत्रह साल की हूँ) तो पढ़ाई बन्द हो गयी। ठीक इन्हीं दिनों मैने कुछ शैतानी शुरू कर दी। क्या शैतानी की सो तुम्हें नही बताऊँगी; इतना ही बता देना काफी है कि कोई खास बात उसमें नहीं थी। मगर नानी ने एक दिन सवेरे मुझे बुलाया और कहा कि आँखो से देख न सकने के कारण मेरी देखभाल करना उसके लिए मुश्किल है; उसने एक पिन ले कर मेरे कपड़े से अपने कपड़े को जोड़ लिया और कहा कि अगर मैं अपना सुधार नही करूँगी तो मुझे उसके साथ जिन्दगी भर इसी तरह बैठे रहना पड़ेगा। और वास्तव मे पहले-पहल तो उससे पिंड छुड़ा कर निकलना बिलकुल असम्भव था......मुझे सब काम, पढ़ाई-लिखाई नानी के पास बैठ कर ही करना पड़ता था। मैने एक बार नानी को धोखा देने की कोशिश की और अपनी जगह पर फेकला को फुसला कर बिठा दिया। फेकला हमारी नौकरानी है, वह बहरी है। मेरी जगह पर फेकला जा कर बैठ गयी; नानी उस वक्त आराम-कुर्सी पर लेटी सो रही थी, और मैं पास ही एक सहेली से मिलने चली गयी। बस, सब गड़बड़ हो गया। मैं बाहर ही थी, इतने मे नानी जाग पड़ी और कुछ पूछने लगी; वह समझ रही थी कि मैं अपनी जगह पर शान्त हो कर बैठी हूँ। फेकला ने देखा कि नानी

कुछ बात कह रही है, मगर यह न समझी कि क्या कह रही है; उसकी समझ में न आया कि क्या करे, बस पिन खोल कर वह भाग खड़ी हुई···"

इतना कह कर नस्तेङ्का रुकी और हँसने लगी। उसके साथ मैं भी हँसने लगा। वह फौरन बोली—

"देखो, कहे देती हूँ, तुम नानी की बात पर हँसो मत, हाँ! मैं तो हँसती हूँ इसलिए कि हँसी की बात थी·····क्या करूँ, नानी है ही ऐसी; मगर फिर भी एक तरह से मैं उसे प्यार भी करती हूँ। ओह हाँ, उन्हीं दिनों से तो। बस, मुझे फौरन बैठ जाना पड़ा और उसके बाद फिर उठने नहीं दिया गया।

"ओह, मैं एक बात बताना भूल गयी, हमारा मकान हमारा निजी है, यानें नानी का; छोटा-सा काठ का मकान जिसमें तीन खिड़कियाँ हैं जो नानी की ही उम्र की हैं; और एक ऊपर की मञ्जिल भी है; बस, ऊपर की मञ्जिल में एक नया किरायेदार आ गया।"

"तो तुम्हारे यहाँ कोई पुराना किरायेदार भी था?" मैंने बीच में ही कहा।

"हाँ, हाँ, जरूर," नस्तेङ्का ने उत्तर दिया, "और ऐसा आदमी जो तुम से भी अच्छी तरह चुपचाप रहना जानता था। सच तो यह है कि उसने शायद ही कभी किसी के सामने जबान खोली हो। वह एक गूंगा, अन्धा, लंगड़ा, सूखा हुआ बुड्ढा था, और आखिर वह जिन्दा न रह सका और मर गया; और इसीलिए हमें एक नया किरायेदार खोजना पड़ा, क्योंकि किरायेदार के बिना हम रह ही नहीं सकते थे—मकान का किराया और नानी की पेन्शन, बस यही हमारी आमदनी है। लेकिन भाग्य की बात कि नया किरायेदार एक नौजवान था और कहीं बाहर का रहने वाला था। और उसने किराये के बारे में कोई खींचातानी नहीं की, इसलिए नानी ने उसे रखना मंजूर कर लिया, और इसके बाद ही मुझसे पूछा—'बता तो, नस्तेङ्का, नया किरायेदार कैसा है—जवान है या बूढ़ा?' मैं झूठ बोलना नहीं चाहती थी, इसलिए मैंने नानी से कह दिया कि न वह बिलकुल जवान ही है, न बुड्ढा।

"'और क्या वह देखने में सुन्दर है?' नानी ने पूछा।

"मैं फिर झूठ बोलना नहीं चाहती: 'हाँ, नानी, वह सुन्दर है,' मैंने कहा। और तब नानी बोली: 'ओह, यह बुरा है, बहुत बुरा है! मैं कह रही हूँ, बेटी, कि कहीं तेरी नजर उस पर न हो। कैसा जमाना आ गया! एक तो परदेसी किरायेदार, तिस पर खूबसूरत! हमारे वक्त में इस तरह की बातें कभी नहीं होती थी।'

"पुराने जमाने की याद करके नानी हमेशा रोती थी—पुराने जमाने में वह जवान थी, पुराने जमाने में सूरज में ज्यादा गरमी थी, और उस वक्त मक्खन इतनी जल्दी खट्टा नहीं पड़ता था—जब देखो तब पुराना जमाना! मैं चुपचाप मुँह लिये बैठी रहती और मन ही मन सोचती: नानी ने क्यों यह बात मुझसे कही? उसने मुझसे क्यों पूछा कि नया किरायेदार जवान है, या सुन्दर है? लेकिन बात यहीं तक रहती, मैं जरा-सा सोचती, फिर बुनाई के फन्दे गिनने लगती, मोजे बुनने में लग जाती और सब बातें भूल जाती।

"फिर क्या हुआ कि एक दिन सवेरे ही हमारा किरायेदार मिलने आया; वह चाहता था कि उसके कमरे की दीवारों पर कागज लगाने का वादा कर दिया जाए। एक बात से दूसरी बात उठी। नानी तो बातून थी ही, और वह मुझसे कहने लगी, 'जा तो नस्तेङ्का, मेरे कमरे में और मेरी गिनती की माला ले आ।' मैं तुरन्त कूद उठी; पता नहीं क्यों, शर्म के मारे मेरे कान तक लाल हो गये, और मैं यह बात बिल्कुल भूल गयी कि पिन लगी है; बजाय इसके कि धीरे से पिन खोल लूँ ताकि वह देखने न पाए—मैं कूद कर उठी और झटके से नानी की कुर्सी कुछ खसक गयी। जब मैंने देखा कि किरायेदार के सामने मेरी सारी पोल खुल गयी है, तो मुझे और भी शर्म लगी और स्तब्ध हो कर मैं खड़ी रह गयी, जैसे मुझे गोली लग गयी, और फिर यकायक रुलाई आ गयी—मुझे उस वक्त इतनी शर्म लग रही थी, इतना दुःख लग रहा था कि मेरे यह समझ में नहीं आ रहा था कि किधर ताकूं! नानी चिल्ला कर बोली—'क्यों, खड़ी क्यों है?' और यह सुन कर मेरा और भी बुरा हाल हो गया। जब यह हाल किरायेदार ने देखा, देखा कि उसी के कारण मुझे लज्जित होना पड़ा है, तो उसने सिर झुकाया और तुरन्त बाहर चला गया।

"इसके बाद, बरामदे में जरा-सी आहट सुनते ही मानो मुझे मौत आती थी। 'किरायेदार तो नहीं है,' मैं सोचती रहती थी; ऐसे वक्त मैं चुपके से पिन खोल लेती थी। लेकिन मेरा ख्याल कभी सच न निकला, वह कभी नहीं आया। एक पाख बीता; किरायेदार ने फेक्ला के जरिये कहलाया कि उसके पास बहुत सी फ्रेन्च किताबें हैं; जो मेरे पढ़ने लायक हैं, और यह कि क्या मेरी नानी मुझे उन किताबों को पढ़ने की इजाजत देंगी ताकि मेरा जी न ऊबे? नानी ने खुश हो कर मन्जूरी दी, मगर कई बार पूछा कि किताबें अच्छी और धार्मिक हैं या नहीं, क्योंकि अगर वे खराब किताबें हैं तब तो पढ़ने का सवाल ही बेकार है क्योंकि ऐसी किताबों से लोग बुरी बातें सीख जाते हैं।

'और मुझे क्या सीखना चाहिये, नानी? उन में क्या-क्या लिखा है?'

" 'ओह' उसने कहा, 'उनमें यही सब लिखा रहता है कि किस तरह जवान लड़के अच्छी लड़कियों को फुसलाते हैं; किस तरह शादी करने का बहाना बना कर वे उन्हें अपने माँ-बाप के घर से दूर ले जाते हैं; किस तरह बाद में वे इन बेचारी लड़कियों को भाग्य पर छोड़ कर भाग जाते हैं, और बेचारी लड़कियाँ दुःख भोग-भोग कर मरती हैं। मैंने बहुत-सी किताबें पढ़ी थीं', नानी ने कहा, 'और इन सब बातों का इतने अच्छे ढंग से वर्णन किया जाता है कि रात-रात भर जाग कर लोग इन्हें पढ़ते हैं। इसलिए, खबरदार, तू इन्हें मत पढ़ना, नस्तेंका,' वह कहने लगी। 'उसने कौन-सी किताबें भेजी हैं?'

" 'ये तो सब वाल्टर स्कॉट के उपन्यास हैं, नानी।'

" 'वाल्टर स्कॉट के उपन्यास! लेकिन ठहरो, कहीं इसमें कोई चाल तो नहीं है? देख तो, कहीं उनमें कोई प्रेम-पत्र तो नहीं रख दिया है?'

" 'नहीं, नानी,' मैंने कहा, 'कहीं तो नहीं।'

' "लेकिन जरा जिल्द के भीतर देख तो, कभी-कभी जिल्द के भीतर भी चिपका देते हैं, लुच्चे कहीं के!'

" 'नहीं, नानी, जिल्द के भीतर कुछ नहीं है।'

" 'अच्छा, तो ठीक है।'

" इस तरह हम वाल्टर स्कॉट की चीज़ें पढ़ने लगे; और क़रीब एक महीने में आधे से ज्यादा पढ़ डाला। फिर वह और-और किताबें भेजने लगा। उसने पुश्किन भी भेजा; आखिरकार मेरी आदत पड़ गयी और किताब के बिना मुझ से रहा ही न जाता था, और मैंने यह भी सपने देखना छोड़ दिया कि मेरा चीन के राजकुमार के साथ ब्याह हो जाए तो कितना अच्छा हो।

"इसी तरह दिन बीत रहे थे कि एक दिन ज़ीने में उससे सामना हो गया। नानी ने मुझे कोई चीज़ लाने भेजा था। वह रुका, मैं शर्माने लगी, वह भी शर्माने लगा; वह हँसा, साथ ही उसने मुझ से नमस्ते भी किया, नानी के बारे में पूछा और कहा, 'तो, तुमने किताबें पढ़ लीं?' मैंने कह दिया कि पढ़ लीं। 'कौन सी सब से अच्छी लगी, उसने पूछा। मैंने कहा, 'आइवन-हो, और सब से ज्यादा पुश्किन,' और इस तरह हमारी बातचीत उस वक्त वहीं खत्म हो गयी।

"एक हफ्ते बाद फिर ज़ीने में उससे भेंट हुई। इस बार नानी ने मुझे नहीं भेजा था, मैं खुद ही अपने लिए कुछ लेने जा रही थी। दो बज चुका था, और उसके घर लौटने का यही वक्त था। 'नमस्कार', उसने कहा। मैंने भी नमस्कार कर दिया।

" 'तुम्हारा जी नहीं ऊबता', उसने कहा, 'सारे दिन नानी के पास बैठे बैठे?'

"जब उसने यह पूछा तो मुझे बड़ी शर्म लगी, पता नहीं क्यों; मैं लज्जित हो रही थी, और फिर मुझे चिढ़ लगी— शायद इसलिए कि इस बारे में और लोग मुझसे क्यों पूछने लगे। मैं बिना कुछ उत्तर दिये ही चली जाना चाहती थी, पर हिम्मत नहीं हुई।

" 'सुनो', वह कहने लगा, 'तुम एक अच्छी लड़की हो। माफ़ करना, मैं तुमसे इस तरह बोल रहा हूँ, मगर मैं तुम्हें यक़ीन दिलाता हूँ कि मै तुम्हारी उतनी ही भलाई चाहता हूँ जितनी तुम्हारी नानी। क्या तुम्हारी कोई सहेली नही हैं, जिनसे तुम मिलने जा सको?'

"मैंने कह दिया, मेरी कोई सहेली नही है, एक मशेंका को छोड़ कर, सो वह भी स्कोव चली गयी है।

" 'सुनो', वह बोला, 'क्या तुम मेरे साथ थियेटर देखने चलना पसन्द करोगी?'

" 'थियेटर? और नानी?'

" 'लेकिन नानी के बिना जाने ही तुमको जाना पड़ेगा', उसने कहा।

" 'नहीं', मैंने जवाब दिया, 'मैं नानी को धोखा देना नही चाहती। नमस्कार।'

" 'अच्छा, तो नमस्कार,' उसने कहा और चला गया।

"भोजन के बाद वह फिर हम लोगों से मिलने आया; वह बड़ी देर तक बैठा नानी से बातें करता रहा और पूछता रहा कि नानी कभी बाहर निकलती है या नहीं, उसका यहाँ कोई परिचित है या नहीं, फिर अचानक ही बोला: 'मैंने आज ऑपेरा मे एक बॉक्स रिजर्व कराया

है; 'सेविल का नाई' खेला जा रहा है। मेरे कुछ दोस्त जाने वाले थे मगर फिर इन्कार कर दिया, उनका टिकिट मेरे पास फालतू है।' 'सेविल का नाई?' नानी बोल उठी; 'पुराने जमाने में भी यह खेला जाता था?'

"'हाँ, हाँ, यह वही खेल है,' वह बोला और मेरी ओर देखने लगा। मैं समझ गयी कि इसका क्या मतलब है, और मेरा मुँह लाल पड़ गया, और घबराहट से मेरा कलेजा धक्-धक् करने लगा।

"'ठीक है, मैं जानती हूँ' नानी बोली; 'एक बार एक प्राइवेट शो में रोजिना का पार्ट भी मैंने किया था।'

"'तो क्या आज आप चलेंगी?' वह बोला। 'नहीं तो मेरा टिकिट बेकार जाएगा।'

"'जरूर, जरूर चलो,' नानी ने कहा; 'क्यों नहीं? और मेरी नस्तेङ्का ने कभी थियेटर देखा भी नहीं है।'

"हे ईश्वर, कैसी खुशी हुई! फौरन हम लोग तैयार हो गये, हमने अपने सबसे बढ़िया कपड़े पहिने और चल दिये। हालाँकि नानी अन्धी थी, मगर वह संगीत सुनना चाहती थी; और फिर वह बड़ी अच्छी है, उसे सबसे ज्यादा फिक्र मेरा दिल बहलाने की रहती थी, नहीं तो क्या हम जा सकते थे?

"'सेविल का नाई' खेल का मुझ पर क्या असर हुआ सो नहीं कहूँगी; लेकिन उस दिन हमारा किरायेदार इतने सुन्दर ढङ्ग से लगातार मेरी ओर देखता रहा, इतनी अच्छी-अच्छी बातें करता रहा कि मैं फौरन ताड़ गयी कि वह मेरी दूसरे दिन सुबह परीक्षा लेने की फिकर में है, क्योंकि उसने मुझसे कहा था कि सवेरे मैं उसके साथ अकेले बाहर चलूँ। मुझे तो खुशी ही थी! मैं जब सोने गयी तो इतने अभिमान में थी, इतनी खुश थी, मेरा दिल इतना धड़क रहा था कि लगा जैसे बुखार आ गया हो, और रात भर 'सेविल का नाई' की बातें सोचती रही।

"मैं इस आशा में थी कि वह इसके बाद हमारे यहाँ बार-बार आया करेगा, लेकिन यह बात बिल्कुल नहीं हुई। उसने आना करीब-करीब बिलकुल ही बन्द कर दिया। महीने में कभी एक बार वह आ जाता था तो थियेटर ले जाने के लिए। हम दो बार देखने गये। बस, मुझे ही इस बात से खुशी नहीं होती थी; मैं समझ गयी कि मेरे लिए उसे केवल थोड़ा दुःख था, क्योंकि नानी का व्यवहार मेरे प्रति इतना कठोर था, इससे ज्यादा कुछ नहीं। जैसे-जैसे दिन कटते गये, मेरी परेशानी और व्याकुलता भी बढ़ती गयी, न चुपचाप बैठते अच्छा लगता, न पढ़ते, न काम करते; कभी-कभी मैं हँसने लगती और नानी को चिढ़ाने के लिए कुछ शैतानी कर बैठती, और कभी रोने लग जाती। आखिरकार मैं दुबली हो चली और करीब-करीब बीमार हो गयी। आपेरा का मौसम भी निकल चुका था और किरायेदार का आना भी बन्द-सा ही था—जब कभी हमारी भेंट होती—होती हमेशा उसी जीने में थी—तो वह इतने झुक कर, इतना गम्भीर चेहरा बना कर नमस्कार करता मानो वह बोलना ही नहीं चाहता हो, और सामने वाले दरवाजे की तरफ उतर कर चला जाता, और मैं देर तक जीने के बीचो-बीच खड़ी रह जाती और मेरा चेहरा पके बेर की तरह लाल हो जाता, क्योंकि उसे देखते ही सारे शरीर का रक्त माथे में चढ़ जाता।

"कहानी थोड़ी-सी और बाकी है। ठीक एक

साल पहले, मई के महीने में, किरायेदार आया और नानी से कहने लगा कि यहाँ का उसका काम खत्म हो गया है और अब उसे एक साल के लिए मास्को वापस जाना पड़ेगा। जब मैंने यह सुना, मैं अधमरी हो कर कुर्सी पर गिर पड़ी; नानी कुछ नहीं समझी, और यह कह कर कि उसके जाने का वक्त हो गया, उसने झुक कर नमस्कार किया और चला गया।

" 'अब क्या करती मैं ? मैं सोचती रही, सोचती रही, तड़पती रही, छटपटाती रही, और आखिर मैंने निश्चय कर लिया। दूसरे दिन वह जाने वाला था और मैंने निश्चय कर लिया था कि शाम को जब नानी सो जाएगी तब सारी बात खतम कर दूँगी। बात यह हुई। मैंने अपने सब कपड़े एक पोटली में बाँध लिये—जितने कपड़ों की मुझे जरूरत थी—और हाथ में पोटली ले कर अधमरी-सी हालत में मैं ऊपर किरायेदार के पास पहुँची। मेरा ख्याल है कि मैं घण्टे भर तक तो जीने में खड़ी रही होऊँगी। जब मैंने उसका दरवाजा खोला तो मुझे देखते ही वह चीख पड़ा। वह शायद समझा कि मैं कोई भूत हूँ और मुझे पानी देने के लिए उठ कर दौड़ा, क्योंकि मुझे खड़े रहना भी मुश्किल हो रहा था। मेरा कलेजा इतने जोर से धड़क रहा था कि सिर में दर्द हो रहा था और मैं नहीं समझ रही थी कि मैं क्या कर रही हूँ। जब मुझे होश आया तो मैं अपनी पोटली उसके बिछौने पर रख कर उसी के पास बैठ गयी और अपने हाथों में मुँह छिपा कर फूट-फूट कर रोने लगी। शायद वह फौरन सारा मामला समझ गया, और उसने इतनी उदास दृष्टि से मेरी ओर देखा कि मेरा हृदय फटने लगा।

" 'सुनो' वह कहने लगा 'सुनो, नस्तेका, मैं कुछ भी नहीं कर सकता; मैं गरीब आदमी हूँ, मेरे पास कुछ नहीं है, एक अच्छी खाट तक नहीं। अगर मैं तुमसे शादी भी कर लूँ तो हम लोग किस तरह रह सकते हैं?'

" 'बड़ी देर हम लोगों में बातचीत होती रही; मगर आखिर में एक दम पागल-सी हो गयी, मैंने कहा कि मुझ से अब नानी के पास नहीं रहा जाएगा, मैं उसे छोड़ कर कहीं भाग जाऊँगी और अब मैं उसके साथ पिन लगा कर जुड़ी नहीं रहना चाहती, और अगर वह चाहे तो मैं उसके साथ मास्को भी चली चलूँगी, क्योंकि अब उसके बिना मुझ से रहा नहीं जाता। लज्जा, स्वाभिमान और प्रेम सब एक साथ मेरे अन्दर एक तूफ़ान मचाये हुए थे, और मैं सिसकती हुई बिस्तर पर गिर पड़ी, मुझे इतना डर लग रहा था कि कहीं वह मना न कर दे।

"कई मिनट तक वह चुप बैठा रहा, फिर उठ कर मेरे पास तक आया और मेरा हाथ पकड़ कर बोला—

'सुनो, मेरी प्यारी अच्छी नस्तेङ्का, सुनो, मैं शपथ-पूर्वक तुमसे कहता हूँ कि अगर कभी भी मैं इस योग्य हुआ कि शादी कर सकूँ तो तुम्हीं मेरे सुख का कारण बनोगी। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि अब एकमात्र तुम्हीं हो जो कि मुझे सुखी बना सकती हो। सुनो, अभी मैं मास्को जा रहा हूँ और एक साल तक वहीं रहूँगा; मुझे आशा है कि मेरी स्थिति ठीक हो जाएगी। जब मैं वापस आऊँगा, अगर उस वक्त भी तुम्हें मुझसे प्रेम बना रहे तो यह निश्चित है कि हम दोनों सुखी होंगे। इस वक्त यह असम्भव है, मैं कोई वादा नहीं कर सकता, मुझे वादा

करने का अधिकार भी नहीं है। मैं फिर कहता हूँ, एक बरस में न सही, कभी तो होगा ही; हाँ, बशर्ते कि कोई दूसरा आदमी तुम्हें पसन्द न आ जाए, क्योंकि मैं तुम्हें किसी प्रकार के बन्धन में डालना नहीं चाहता।'

"बस, यही उसने मुझसे कहा, और दूसरे दिन वह चला गया। हम लोगों ने तय कर लिया था कि नानी से कोई बात नहीं करेंगे : यह उसी की इच्छा थी। बस, अब कहानी खत्म हो रही है। ठीक एक साल बीत चुका है। वह आ गया है; वह तीन दिन से यहीं है, और, और—"

"और क्या?" अन्तिम बात सुनने के लिए अधीर हो कर मैं चिल्ला उठा।

"और अभी तक उसने शक्ल भी नहीं दिखाई है!" नस्तेङ्का ने जैसे सारी शक्ति बटोर कर उत्तर दिया, "उसके आने का कोई लक्षण नहीं है, कोई आवाज तक नहीं है!"

इतना कह कर वह रुकी, एक मिनट के लिये रुकी, फिर सिर झुका कर, दोनों हाथ मुँह पर रख कर इतने जोर से सिसकने लगी कि सुन कर मेरा दिल भर आया। मैंने कभी यह आशा नहीं की थी कि इस तरह अन्त होगा।

"नस्तेङ्का," मैंने द्रवित स्वर में घिघिया कर कहा, "नस्तेङ्का! ईश्वर के लिए, रोओ मत! क्या मालूम? वह शायद अभी नहीं आया है..."

"आया है, आया है," नस्तेङ्का ने दुहराया, "वह यहीं है, और मुझे मालूम है। हम लोगों ने उस वक्त, उसी दिन शाम को उसके जाने से पहले एक बात तय की थी; जब हम लोगों में वे सब बातें हो गयीं जो कि ऊपर कह चुकी हूँ और सब बातें तय हो गयीं तो हम लोग थोड़ी देर घूमने के लिए इधर इसी फुटपाथ पर चले आये। दस बजा था, हम लोग इसी सीट पर बैठे थे। मैं उस वक्त रो नहीं रही थी, उसकी बातें सुनना इतना मीठा लगता था...... और उसने कहा था कि वह यहाँ पहुँचते ही सीधा हमारे घर आएगा और अगर मैंने उससे शादी करने से इन्कार नहीं कर दिया तो फिर हम लोग सारी बातें नानी से कह देंगे। अब वह यहाँ है, मुझे मालूम है, और फिर भी नहीं आता!"

और वह फिर सिसकने लगी।

"हे ईश्वर, क्या मैं तुम्हारे इस दुःख में कुछ भी तुम्हारी मदद नहीं कर सकता?" सीट से कूद कर मैं उठा और भयंकर निराशा से चिल्ला कर बोला, "बताओ, नस्तेंका, क्या यह मेरे लिए सम्भव नहीं है कि एक बार उसके पास जाऊँ?"

"क्या यह हो सकेगा?" एकाएक उसने सिर उठा कर पूछा।

"नहीं, हर्गिज़ नहीं," मैंने दृढ़ता से कहा, "लेकिन मैं एक बात कहूँ, सुनो एक चिट्ठी लिखो तुम।"

"नहीं यह असम्भव है, यह मैं नहीं कर सकती," उसने सिर झुकाते हुए मेरी ओर बिना देखे निर्णयात्मक ढंग से कहा।

"किस तरह असम्भव—क्यों असम्भव है?" मैं अपनी बात पर अड़ा रहा, "लेकिन, नस्तेंका, बात यह है कि चिट्ठी, किस तरह की चिट्ठी, पचासों तरह की चिट्ठियाँ होती हैं......और

......ओह नस्तेंका, मैं ठीक कह रहा हूँ; मेरा विश्वास करो, मेरा विश्वास करो, मैं तुम्हें खराब सलाह कभी नहीं दूँगा। सब इन्तजाम किया जा सकता है! पहला कदम उस समय तुमने उठाया था, फिर अब क्या बात है?"

"मैं नही लिख सकती! ऐसा मालूम पड़ेगा कि मैं उसके गले पड़ रही हूँ!"

"ओह, मेरी अच्छी, नन्हीं नस्तेंका", मुश्किल से अपनी मुस्कराहट को छिपाते हुए मैंने कहा; "नही, नही, तुम्हें तो, सच पूछो तो लिखने का हक है, क्योंकि उसने तुमसे एक वादा किया है। इसके अलावा उसकी हर बात से मुझे ऐसा लगता है कि वह एक नाजुक-मिजाज आदमी है; उसने बहुत अच्छा सलूक किया", अपनी दलीलों और विश्वासों से अधिकाधिक जोश मे आते हुए मैं कहता गया, "कैसा सलूक किया उसने? उसने अपने को वचन-बद्ध कर दिया: उसने कहा कि अगर वह शादी करेगा तो तुम्हीं से करेगा, और किसी से नहीं; उसने तुम्हें पूरी आज़ादी भी दी कि तुम शादी करने से फौरन मना भी कर सकती थीं......ऐसी हालत मे तुम पहला कदम उठा सकती हो; तुम्हें हक है; तुम्हारी स्थिति बड़ी ही अच्छी है—अगर, मान लो, तुम उसे अपने वचन से मुक्त करना चाहती हो......"

"सुनो, सुनो; किस तरह लिखोगे?"

"लिखूँगा? क्या?"

"यही चिट्ठी।"

"बताता हूँ, किस तरह लिखूँगा: 'प्रिय महोदय...'"

"क्या सचमुच इसी तरह शुरू करूँ, 'प्रिय महोदय...'?"

"अवश्य, इसी तरह लिखो! हालाँकि मैं भी भला क्या जानता हूँ, मैं सोचता हूँ......"

"हाँ, हाँ, फिर इसके बाद?"

"'प्रिय महोदय—क्षमा कीजियेगा कि'—मगर नही क्षमा माँगने की कोई जरूरत नही; बात कायदे की है तो फिर क्या? बस लिखो—

'मैं तुम्हे लिख रही हूँ। मेरी अधीरता के लिए माफ़ करना, लेकिन एक साल से आशाओं ने मुझे सुखी कर रक्खा है; क्या यह मेरा दोष है कि अब संदेह का एक दिन भी मुझे असह्य है? अब चूँकि तुम आ गये हो तो शायद तुमने अपना इरादा बदल दिया है। अगर ऐसा है तो इस चिट्ठी से तुम्हे मालूम हो जाएगा कि न मैं तुम्हें कोसती हूँ, न दोष देती हूँ। मैं तुम्हे दोष इसलिए नहीं देती कि तुम्हारे हृदय के ऊपर मेरा कोई जोर नहीं है, यह मेरा भाग्य है!

'तुम शरीफ आदमी हो। तुम इन अधीर वाक्यों के ऊपर न मुसकराओगे, न नाराज होओगे। याद रखना कि ये एक गरीब लड़की ने लिखे है; कि वह बिलकुल अकेली है; कि उसको रास्ता दिखाने वाला कोई नहीं है, उसको सलाह देनेवाला कोई नहीं है, और यह कि वह अपने-आप अपने दिल पर कभी भी काबू नहीं पा सकती थी। लेकिन मुझे क्षमा करना, एक प्रकार का सन्देह मेरे दिल में घुस बैठा है— चाहे एक ही क्षण के लिए हो। तुम उसका, जिसने तुम्हें इतना प्यार किया था और अब भी जो तुमसे इतना प्यार करती है उसका स्वप्न में भी कभी अपमान नहीं कर सकते यह मैं जानती हूँ।'

"हाँ, हाँ, यही तो, बिलकुल यही, मै भी सोच रही थी!" नस्तेंका चिल्ला उठी और उसकी आँखें खुशी से चमक रही थीं, "ओह तुमने मेरी मुश्किल

को हल कर दिया : स्वयं भगवान् ने तुम्हे मेरे पास भेज दिया है ! शुक्रिया, शुक्रिया !"

"किसलिए ? किस बात के लिए ? ईश्वर ने मुझे भेज दिया इसलिए ?" उसके छोटे से प्रसन्न मुख को देख कर खुश होते हुए मैने कहा।

"क्यो नहीं ? हाँ, हॉ, इसके लिए भी।"

"आह, नस्तेङ्का ! कोई-कोई लोग दूसरो को इसलिए धन्यवाद देते है कि वे उनके समय में जीवित हैं; मैं तुम्हे इसलिए धन्यवाद देता हूँ कि तुम मुझे मिली, कि आजीवन तुम्हें याद रखने का मौका मुझे मिला !"

"अच्छा, बस, बस, रहने दो ! लेकिन एक बात है, सुनो : उस वक्त हम दोनों मे यह भी तय हुआ था कि जैसे ही वह आएगा तो अपने किसी परिचित के घर से, जो इस बारे मे कुछ भी नही जानता, मेरे पास चिट्ठी के जरिये खबर भेज देगा; या, अगर चिट्ठी लिखना सम्भव न हुआ, क्योंकि चिट्ठी मे सब बातें नहीं लिखी जा सकतीं, तो वह आने के ही दिन दस बजे इसी जगह पर मुझसे मिलेगा। मैं जानती हूँ कि वह आ गया है; लेकिन आज तीसरा दिन है और उसका कहीं पता तक नहीं, न कोई चिट्ठी। सुबह के वक्त नानी के पास से हटना मेरे लिए असम्भव है। तुम मेरी चिट्ठी उन लोगो के हाथ दे देना जिनका अभी जिक्र किया था : वे लोग उसके पास पहुँचा देगे, और अगर कोई जवाब आये तो कल दस बजे लेते आना।"

"लेकिन चिट्ठी, चिट्ठी ! पहले तुम्हे चिट्ठी लिखना होगा, समझीं ! और शायद परसो ही सब कुछ होगा।"

"चिट्ठी···"नस्तेङ्का कुछ गड़बड़ा कर बोली, "चिट्ठी,···लेकिन···"

लेकिन उसने बात पूरी नही की। पहले तो उसने अपना छोटा-सा चेहरा एक ओर फेर लिया, उसके मुँह पर सुर्खी दौड़ रही थी, और यकायक मेरे हाथ मे एक लिफाफा आ गया जो निश्चय ही बहुत पहले ही लिख कर सील लगा कर तैयार रक्खा गया था। एक चिरपरिचित मधुर और आकर्षक स्मृति मेरे मन मे वह निकली।

"आर, ओ — रो; यस, आई — सि; यन, ए——ना" मैने शुरू किया।

"रोसिना !" एक साथ हम दोनों कह उठे; खुशी के मारे मै उसे आलिङ्गन किये ले रहा था और वह लज्जा से ऐसी लाल हो रही थी जैसी वही हो सकती थी, और काली बरुनियों पर मोती जैसे चमकते आँसुओ के बीच वह हँस रही थी।

"चलो, बस करो, अब बहुत हुआ ! अच्छा तो अब नमस्कार", वह जल्दी-जल्दी कहने लगी। "यह चिट्ठी है, और यह ठिकाना है जहाँ ले जाना है। नमस्कार, जब तक न मिले तब तक के लिए ! कल तक के लिए !"

उसने मेरे दोनो हाथो को कस कर दबाया, सिर हिलाया और फिर बगल वाली सड़क पर तीर की भाँति दौड़ गयी। मैं बड़ी देर तक स्तब्ध हो कर खड़ा रहा और जब तक वह दीखी, देखता रहा।

'कल तक के लिए ! कल तक के लिए !' मेरे कानो में गूँज रहा था, और वह आँखो से ओझल हो गयी थी।

[क्रमश.]

भारत की प्राथमिक संस्कृतियाँ

समाज-व्यवस्था (१)

—श्यामाचरण दुबे

भारत में एवं संसार के अन्य आदिवासी-क्षेत्रों में निवास करने वाली प्राथमिक मानवता के सामाजिक संगठन की वाह्य रूप-रेखा में सर्वत्र बड़ी समानता दिखाई पड़ती है। भारत का आदिवासी समाज अनेक प्राथमिक समूहों (Tribes) में विभाजित है। इनमें से कतिपय समूह (उदाहरणार्थ गोंड, मुण्डा, संथाल आदि) बहु-संख्यक हैं तथा अनेकों (जैसे असुर, बिरहोर, कमार, भुँजिया, टोडा, काडर आदि) की संख्या अत्यंत न्यून है। मानवमात्र के प्रत्येक समूह की भाँति भारत की प्राथमिक संस्कृतियों में भी 'परिवार' सामाजिक संगठन की मूलभूत इकाई है। परिवार जहाँ एक ओर 'संबंधी-वर्ग' (Kin Group) जैसे विशाल परिवार का सदस्य होता है, वहाँ दूसरी ओर वह किसी विशिष्ट 'गोत्र' (Clan) का भी सदस्य होता है। संबंधी-वर्ग तथा गोत्र की सदस्यता के अतिरिक्त परिवार को संस्कृति की स्थानीय इकाई, 'ग्राम' (Local Group), तथा उसके विशालतर रूप 'ग्रामीण समुदाय' (Village Community) की सदस्यता भी अनिवार्यतः स्वीकार करना आवश्यक होता है। स्वयं गोत्र (Clan) भी अनेक प्राथमिक संस्कृतियों में 'गोत्र-समूह' (Phratry) के अंग होते हैं। जिन समाजों में द्वि-संगठन (Dual Organization) होता है उनमें ये 'गोत्र-समूह' समाज के दो मुख्य उपभागों में से किसी एक के अंग होते हैं। सामाजिक संगठन की इन मूल इकाइयों के अतिरिक्त प्रत्येक समाज में भिन्न स्तरों की कतिपय अन्य संस्थाएँ भी विकसित होती हैं। वे हैं:— सामाजिक स्तर तथा वर्ग-भेद, आयु तथा यौन आधार पर संगठन, गुप्त समितियाँ तथा 'क्लब', और सामाजिक-राजकीय सत्ता का उपयोग करने वाली संस्थाएँ। भारत में इन संस्थाओं के स्वरूप तथा उनके पारस्परिक संबंधों में अपनी कुछ निजी विशेषताएँ हैं जो उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण हैं।

भारत के आदिवासी समाजों में हमें प्रायः प्रत्येक प्रकार के 'परिवार'-संगठन दृष्टिगत होते हैं। पितृ-प्रधान (Patriarchal), पितृ-गृही (Patri-local) एवं पितृ-वंशीय (Patri-lineal) परिवारों का बाहुल्य निःसंदेह देखने में आता है; किन्तु मातृ-प्रधान (Matriarchal), विशेष कर मातृ-गृही (Matri-local) तथा मातृ-वंशीय (Matri-lineal), समूहों के भी अनेक उदाहरण भारत में सहज ही उपलब्ध हैं। विवाह-संस्था के स्वरूप के आधार पर परिवार-संस्था के जितने रूप संभव हैं वे भी प्रायः अधिक या कम परिमाण में भारत में देखे जा सकते हैं। बहु-पतित्व, बहु-पत्नीत्व, एक-पति-पत्नीत्व तथा समूह-पति-पत्नीत्व—चारों के आधार पर गठित परिवार हमें आदिवासी भारत में मिलते हैं। सामाजिक संगठन की अन्य इकाइयों का अध्ययन करने के पूर्व, परिवार के विभिन्न स्वरूपों का विश्लेषण करना आवश्यक है।

भारत में आज भी अनेक मातृ-प्रधान समाज अवशिष्ट हैं। ये समाज कतिपय विशिष्ट सिद्धान्तों के आधार पर संगठित दिखाई पड़ते हैं। इनमें उत्तराधिकार माता की ओर से, स्त्रियों की पंक्ति में

होता है। सन्तान अपना पारिवारिक नाम माता से ग्रहण करती है, पिता से नहीं। विवाह के पश्चात् दम्पति या तो वधू की माता के साथ रहते हैं, या अपने स्वतंत्र निवास-स्थान में। मनुष्य कानूनी दृष्टि से अपने भांजे-भांजियों की प्रगति और विकास के लिए उत्तरदायी होता है, और उस पर उनका विशेष अधिकार होता है। जहाँ भांजे-भांजियाँ कानून की दृष्टि से मामा का संरक्षण पाते हैं, वहाँ पुत्र-पुत्री का अधिकार केवल पिता के नैसर्गिक प्रेम पर ही रहता है। इन समाजों में कन्या के रजोदर्शन के अवसर पर विशेष संस्कार होते हैं, और इस स्थिति के आने के बाद शीघ्र ही उसे यौन-शिक्षण तथा यौन-अनुभव प्राप्ति की सुविधाएँ भी मिल ही जाती हैं। विवाह के क्षेत्र में स्त्रियों को पर्याप्त स्वतंत्रता रहती है, तथा कुछ समाजों में उन्हें बहु-पतित्व का अधिकार भी रहता है। इन समाजों के धार्मिक विचारों में उच्चतम स्थान एक अपूर्व-शक्ति-सम्पन्न माता को प्राप्त रहता है। यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं कि ऐसे समाजों में स्त्रियों की उर्वरता को अत्याधिक महत्त्व दिया जाता है। उक्त सिद्धान्तों पर आधारित मातृ-प्रधान समाजों की परिवार-व्यवस्था एवं भारत के अधिकांश पितृ-प्रधान समाजों की परिवार-व्यवस्था में अनेक मूलभूत और महत्त्वपूर्ण अन्तर होना स्वाभाविक ही है।

—

भारत के मातृ-प्रधान समाज तीन प्रमुख क्षेत्रों में पाये जाते हैं। ये क्षेत्र हैं:—ब्रह्मपुत्रा के दक्षिणी तट पर वास करने वाली खासी और गारो जातियों का क्षेत्र; केरल क्षेत्र, जिसकी नायर जाति की यह विशिष्ट समाज-व्यवस्था नृतत्त्व एवं समाज-शास्त्र के क्षेत्रों में अनेक बार वर्णित हो चुकी है; और तीसरा दक्षिण भारत का वह क्षेत्र जिसमें काडर, इरूला, पुलायान आदि आदिवासी समूह एवं होलेया, मादिगा, चेरुमा आदि अस्पृश्य जातियाँ रहती हैं। मातृ-प्रधान परिवारों की विशेषताओं को भली भाँति समझने के लिए उनके कतिपय उदाहरणों का निकट अध्ययन आवश्यक है। आसाम की खासी जाति में विवाह के बाद पुरुष अपनी पत्नी के साथ उसकी माँ के घर में रहता है। जब तक पत्नी अपनी माँ के मकान में रहती है, उसकी पूरी कमाई माँ के हाथों में जाती है जो उसे परिवार के कामों में अपनी इच्छानुसार खर्च करती है। एक-दो बच्चों के जन्म के बाद यदि पति-पत्नी के पारस्परिक संबंध संतोष-जनक होते हैं तो वे अलग मकान में स्वतंत्र रूप से रहने लगते हैं। इस स्थिति में पति-पत्नी की आय का उपयोग सम्मिलित रूप से परिवार के पोषण के लिए किया जाता है। कर्नल गर्डोन, जिन्होंने खासी जाति पर एक पुस्तक लिखी है, सिंटेंग जाति और मओशी क्षेत्र के लोगों के बारे में कहते हैं कि वहाँ की स्थिति ही दूसरी है।' वहाँ पति अपनी सास के साथ स्थायी रूप से नहीं रहता, वह वहाँ केवल पत्नी से भेंट करने के लिए ही जाता है। पति अंधकार होने के बाद ही सास के घर जाता है, और वहाँ खाना-पीना आदि कुछ भी नहीं करता, क्योंकि उसकी व्यक्तिगत आय का कोई भी अंश उस घर के व्यय के लिए नहीं जाता। सिंटेंग जाति में दिन के समय किसी परिवार में विवाहित कन्याओं के पतियों का मिलना प्रायः असंभव है, यद्यपि उस परिवार के विवाहित पुत्र वहाँ अवश्य ही मिल सकते हैं। खासी जाति में उत्तराधिकार स्त्रियों की पंक्ति में माँ की ओर से होता है। और उसकी सम्पत्ति के अधिकांश भाग की अधिकारिणी उसकी सब से छोटी पुत्री होती है। इस जाति में वंश-परंपरा का परिचय भी माँ की ओर से ही दिया जाता है। उनमें एक कहावत है कि स्त्री से ही कुल का जन्म होता है। किसी परिवार का उल्लेख करते समय यह कहा जाता है कि उक्त परिवार के लोग अमुक स्त्री के पुत्र-पुत्री अथवा पौत्र-पौत्रियाँ हैं। उनके अनुसार परिवार में पति का स्थान केवल 'यु शोंग खा' अथवा संतति देने वाले का होता है। जातीय संगठन के सिद्धान्तों के अनुसार

पति अपनी पत्नी के कुल का अंग नहीं माना जाता, और वह उक्त परिवार के उत्सवों और कुलाचार में कोई भाग नहीं ले सकता। खासी जाति की धार्मिक प्रथाओं में स्त्रियों का स्थान मुख्य एवं महत्त्वपूर्ण होता है। उत्तराधिकार में 'धर्म' माता की सब से छोटी पुत्री को मिलता है, और इसीलिए पारिवारिक सम्पत्ति के अधिकांश की उत्तराधिकारिणी भी वही होती है। उसे पारिवारिक धार्मिक उत्सवों तथा कुलाचार का व्यय-साध्य उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना पड़ता है, इसलिए माता की सम्पत्ति का श्रेष्ठतम भाग उसे ही मिलता है। अन्य पुत्रियों को भी कुछ भाग मिलना अवश्य है; किन्तु माता के मूल्यवान् आभूषण, मकान और उसकी अधिकांश वस्तुएँ सब से छोटी लड़की को ही मिलती हैं। वह पारिवारिक मकान को अपनी अन्य बहिनों के एकमत से दी स्वीकृति के विना किसी दूसरे को नहीं बेच सकती। साथ ही प्रत्येक बड़ी बहिन का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह छोटी बहिन के मकान की मरम्मत समय-समय पर अपने खर्च से कराती रहे। सब से छोटी बहिन की मृत्यु होने अथवा उसके धर्म-परिवर्तन कर लेने पर या कुकृत्य के कारण जाति-द्वारा बहिष्कृत होने पर, पारिवारिक सम्पत्ति उससे बड़ी किन्तु शेष अन्य बहिनों से छोटी बहिन को मिलती है। विवाह के पूर्व पुरुष अपने परिश्रम से जो सम्पत्ति अर्जित करता है उस पर उसकी माँ का अधिकार होता है। विवाह के पश्चात् उसकी मृत्यु होने पर उसकी सम्पत्ति उसकी पत्नी और बच्चों को मिलती है, यद्यपि इस स्थिति में भी उसकी सबसे छोटी लड़की का भाग ही सबसे बड़ा रहता है। गारो जाति में सम्पत्ति का उत्तराधिकार माँ से ही ग्रहण किया जाता है; किन्तु परंपरा के अनुसार पुत्री का अपने पिता की बहिन के पुत्र से विवाह करना अनिवार्य होता है। इस तरह सम्पत्ति का अधिकार एक परिवार में माता से पुत्री को जाता है तो दूसरे परिवार में उसका नियंत्रण मामा के बाद भांजे के हाथ जाता है। मामा की मृत्यु के बाद भांजे को अपनी सास से भी, जिसकी पुत्री से वह पहले ही विवाह कर चुका है, विवाह करना अनिवार्य होता है। खासी और गारो जातियों में न बहुपतित्व का प्रचलन है, न बहुपत्नीत्व का। नायर जाति मातृ-प्रधान है। यद्यपि इस जाति की गणना 'प्राथमिक' वर्गों में नहीं की जा सकती, तो भी उसके विशिष्ट प्रकार के पारिवारिक संगठन का उल्लेख आवश्यक है। इस जाति में स्त्री के एक से अधिक पति हो सकते हैं, और यह आवश्यक नहीं है कि उसके पति एक-दूसरे से संबंधित हों। डा. ऐयप्पन का मत है कि बहुपतित्व "इआनगू" (जिस समूह में विवाह-संबंध समाज-स्वीकृत होते हैं) तक ही सामान्यतः सीमित रहता था। बहुपतित्व की प्रथा वाले मातृ-प्रधान समाजों में सन्तति का पितृत्व निश्चित करना प्रायः असंभव होता है एवं माता की पंक्ति में ही वंश-निर्णय सुगमतापूर्वक किया जा सकता है।

भारत की बहु-संख्यक आदिवासी जातियों में परिवार पितृ-प्रधान, पितृ-वंशीय तथा पितृ-गृही होते हैं। परिवार में वयोवृद्ध पुरुष – पितामह अथवा पिता – का स्थान सर्वोच्च होता है तथा उसकी आज्ञा एवं निर्देश को पारिवारिक कार्यों में महत्त्व दिया जाता है। संतानें अपने पिता से वंश का नाम ग्रहण करती हैं। सामान्यतः विवाह के पश्चात् वधू अपने पति के साथ रहने के लिए उसके पिता के घर आती है। अपवाद-स्वरूप कुछ पितृ-प्रधान, पितृ-वंशीय, किन्तु मातृ-गृही परिवार भी देखने में आते हैं, क्योंकि कुछ व्यक्ति विवाह के पश्चात् अपने ससुर के घर 'घर-जमाई' के रूप में रहना स्वीकार कर लेते हैं। पितृ-प्रधान समाजों में सम्पत्ति पुत्रों को मिलती है; बड़े भाई का हिस्सा सामान्यतः छोटे भाइयों के हिस्सों से अधिक रहता है। पितृ-प्रधान समाजों में बहुपतित्व, बहुपत्नीत्व तथा

समूह-विवाह तीनों प्रकार के विवाहों पर आधारित परिवार दृष्टिगत होते हैं। जौनसार बावर के खासा लोगों में बहु-पतित्व का रिवाज है। उनके परिवार सम्मिलित ढंग के हैं, जिनमें सब भाई अपनी एक या अधिक पत्नियों के साथ रहते हैं। यदि अनेक भाइयों के बीच एक ही पत्नी हो तो इस प्रथा को हम बहु-पतित्व ही कहेंगे; किन्तु एक से अधिक भाई अपनी एक से अधिक पत्नियों के साथ रहते हों तो यह रिवाज 'समूह-विवाह' के अन्तर्गत आएगा। इस प्रकार के परिवारों में सन्तति का 'सामाजिक पितृत्व' उनके वास्तविक पितृत्व से भिन्न हो सकता है। सामान्यतः प्रथम सन्तान बड़े भाई की मानी जाती है, भले ही वास्तविक रूप से उसका पिता कोई अन्य भाई हो। शेष बच्चे क्रमशः अन्य भाइयों के माने जाते हैं। यदि कोई छोटा भाई दूसरा विवाह कर ले और अलग रहने लगे तो पहली स्त्री के बच्चे उसके साथ नहीं जाते। वे अपनी माँ तथा अपने पिता-समूह के सबसे बड़े भाई के साथ रहते हैं। सम्पत्ति-विभाजन के अवसर पर बालक संपूर्ण पिता-समूह की सम्पत्ति में से भाग पाने का अधिकार रखते हैं। जौनसार बावर में कुटुम्ब के मकान पर सबसे बड़े भाई का अधिकार रहता है। भूमि, बाग-बगीचे और परिवार की अन्य चल और अचल सम्पत्ति पर बड़े भाई का अधिकार होता है। गृह-कार्य उसी के नियंत्रण में चलते हैं। छोटे भाई बहुधा उसके इस शासन को स्वीकार करते हैं। यह देखा गया है कि यदि कोई छोटा भाई घर के प्रधान की आज्ञाओं की अवज्ञा करता है और विद्रोह करके पारिवारिक सम्पत्ति का विभाजन चाहता है, अथवा किसी एक पत्नी पर केवल अपना ही अधिकार चाहता है तो वह पत्नी भी उसका साथ नहीं देती। डा० डी. एन्. मजूमदार के अनुसार इस क्षेत्र की नारी सम्पत्तिशाली पिता के इकलौते बेटे की अपेक्षा, एक गरीब परिवार के दो-तीन भाइयों से सम्मिलित रूप से विवाह करना अधिक पसंद करेगी; क्योंकि परिवार के पूरे काम का उत्तर-दायित्व अकेले अपने ऊपर लेना उसे स्वीकार नहीं होता। नीलगिरि की टोडा जाति में भी बहु-पतित्व की प्रथा है। इस समाज में भी वंश-परम्परा पुरुष-पंक्ति में चलती है एवं सम्पत्ति का उत्तराधिकार भी पिता से पुत्रों को प्राप्त होता है। इस जाति की परम्परा के अनुसार शिशु के वास्तविक और सामाजिक या कानूनी पिता का एक ही होना आवश्यक नहीं है। सन्तति का पितृत्व एक विशेष रस्म पूरी करने से ही किसी व्यक्ति को प्राप्त होता है। स्त्री के पतियों में से कोई एक, अथवा उसके अविवाहित रहने या पतियों में से किसी के भी न आ सकने की स्थिति में कोई अन्य पुरुष भी, यह रस्म पूरी कर सकता है। स्त्री के प्रथम गर्भ के अवसर पर यह रस्म की जाती है। स्त्री के पतियों में से कोई एक, अथवा कोई अन्य पुरुष, जो इस रस्म को पूरी करने का उत्तरदायित्व लेता है, उसे कतिपय अन्य संबंधियों के साथ समीपवर्ती वन में ले जाता है। वहाँ एक वृक्ष के तने में वर्गाकार छेद बनाता है और उसमें एक जलता हुआ दीप रखता है। इसके पश्चात् वह लकड़ी के छोटे-छोटे धनुष-बाण बना कर स्त्री को भेंट करता है, और साथ ही उसे एक बछड़ा देने का वायदा भी करता है। स्त्री उन धनुष-बाणों को धीरे से उठा कर मस्तक से लगाती है, और जब तक दीप बुझ नहीं जाता, एकटक उसकी ओर देखती रहती है। पुरुष इसके पश्चात् भोजन तैयार करता है। खा-पी कर दोनों वन में ही रात्रि व्यतीत करते हैं। इस रस्म के बाद उस स्त्री के जितने भी बच्चे होंगे, कानूनी दृष्टि से उनका पिता वही व्यक्ति होगा जिसने उसमें भाग लिया था, चाहे वह वास्तविक रूप में उनका जनक हो अथवा नहीं। जब स्त्री का दूसरा पति अथवा पुरुष यह रस्म फिर से पूरी करता है तो वह बाद में होने वाली सन्तान का पिता माना जाता है। सम्पत्ति का उत्तराधिकार भी पुरुषों की पंक्ति में होता है। मृत व्यक्ति की सम्पत्ति उन सब को मिलती है जो सामाजिक और कानूनी दृष्टि से उसके पुत्र होते हैं।

यह कहा जा चुका है कि आदिवासी भारत के अधिकांश समूहों में परिवार पितृ-प्रधान तथा पितृ-गृही होते हैं। परिवार में पति-पत्नी बहुधा अपने नाबालिग बच्चों के साथ रहते हैं। बच्चे क्रमशः बड़े होते हैं। पुत्रियाँ विवाह के पश्चात् अपने पति के घर चली जाती हैं; पुत्र विवाह के बाद कुछ दिनों तक तो माता-पिता के साथ सम्मिलित रूप से रहते हैं; किन्तु पारिवारिक जीवन की उलझनें और कलह उन्हें अपना अलग घर करने के लिए विवश कर देते हैं। वयोवृद्ध माता-पिता को आश्रय देने का उत्तरदायित्व उनकी संतान पर रहता है, और यदि इस दिशा में वे अपने कर्तव्य से विमुख होते हैं तो जाति के नेता उनका ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं। इन समाजों में कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि वृद्धा माँ अपने एक बेटे के साथ रहती है और वृद्ध पिता दूसरे के साथ। उत्सवों तथा संस्कारों के अवसर पर कुटुम्ब के सब स्वतंत्र उपभाग एक स्थान पर एकत्रित होते हैं और कार्य की समाप्ति के बाद फिर पूर्ववत् अपने-अपने स्थानों को लौट जाते हैं। कुटुम्बों का रूप और गठन दोनों जातियों की परंपरा, सदस्यों की रुचि और स्वभाव तथा परिवार की आर्थिक स्थिति आदि पर अवलंबित रहते हैं।

परिवार तो मानवमात्र के सामाजिक संगठन की मूलभूत इकाई है; किन्तु उसके अतिरिक्त सामाजिक संगठन की अन्य इकाइयों का स्वरूप तथा महत्त्व भिन्न जातियों एवं क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न है। अनेक आदिवासी समूह ऐसे हैं जो नाममात्र के लिए एक हो कर भी अनेक स्वतंत्र उपभागों में विभक्त हैं। ये उपभाग अपने आप में स्वयं-पूर्ण इकाइयाँ हैं, और समूह के सदस्य उस विशिष्ट उपभाग के बाहर विवाह-संबंध करने के लिए स्वतंत्र नहीं रहते। उदाहरणार्थ, भारत की विशाल गोंड जाति उत्तर-प्रदेश के दक्षिणी मिर्जापुर से ले कर दक्षिण में हैदराबाद राज्य के आदिलाबाद और वरंगल जिलों तक फैली है। अपनी मूल भाषा में वे जिन्हें भी 'कोई तुर' कहते हैं, वे सब गोंड जाति के अंतर्गत ही आते हैं; किन्तु भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उनकी भाषा और संस्कृति के अनेक रूप आज देखने में आते हैं, और पूरी गोंड जाति अनेक स्वतंत्र जातियों में विभक्त है। मण्डला के गोंड, बस्तर के मुरिया और माड़िया, आदिलाबाद के राजगोंड और वरंगल के कोया—सब एक ही विशाल परिवार के स्वतंत्र सदस्य हैं। माड़िया और मुरिया में विवाह नहीं हो सकता, और राजगोंड और कोया में भी नहीं। दक्षिण छत्तीसगढ़ के सीमित क्षेत्र में गोंडों के तीन ऐसे अन्तर्विवाहिक समूह (Endogamous Groups) हैं: अमात गोंड, धुर गोंड, और उड़िया राजगोंड। इनमें से प्रत्येक का 'जाति' के रूप में स्वतन्त्र एवं पृथक् अस्तित्व है। आसाम की नागा जाति में इस प्रकार के अनेक स्वतंत्र समुदाय हैं। विभिन्न जातियों के इस प्रकार के उपभागों में जो सांस्कृतिक भिन्नताएँ पायी जाती हैं, वे इतनी अधिक होती हैं, तथा उसी परिवार के अन्य समूहों के साथ विवाह एवं खान-पान के इतने तीव्र निषेध उनमें प्रचलित रहते हैं, कि उन्हें स्वतंत्र समह मानना ही उचित होगा।

प्रत्येक स्वतंत्र प्राथमिक समूह (Primitive Tribe) का अपना विशेष आन्तरिक सगठन होता है। अनेक समूहों में आन्तरिक विभाजन का आधार द्वि-संगठन (Dual Organistion) होता है। समाज दो प्रमुख विभागों में विभाजित रहता है, जिनके अनेक स्तर और कई प्रकार के अन्य उपभाग होते हैं। यदि समाज 'अ' और 'ब' मुख्य विभागों में विभाजित हुआ तो यह आवश्यक है कि 'अ' भाग के व्यक्ति विवाह-संबंधों के लिए 'ब' भाग में जाएँ और इसी प्रकार 'ब' भाग के लोग 'अ' भाग में जाएँ। डा० जी० एस घुर्ये का मत है कि दक्षिण भारत में प्राचीन काल में द्वि-संगठन का प्रचलन रहा होगा; यद्यपि विख्यात नृतत्त्व-वेत्ता डा० कापर्स ने इसका विरोध किया

है। उत्कल की बोंदो जाति के विषय में डा० वैरियर एल्विन ने जो अनुसंधान किये हैं, उनसे ज्ञात होता है कि उक्त जाति इसी प्रकार के दो प्रमुख विभागों —"ओंताल" और "किल्लो"— में विभाजित है। यद्यपि आज यह अनिवार्य नहीं है कि विवाह-संबंध इन भागों के बाहर ही किये जाएं, फिर भी डा० एल्विन का मत है कि सम्भवतः अतीत में ऐसा रहा होगा; क्योंकि विवाह-नियंत्रण के जिन दो सिद्धान्तों का प्रचलन सम-सामयिक बोंदो समाज में है वे पड़ोसी जातियों और प्राथमिक समूहों से लिये हुए प्रतीत होते हैं। वे सिद्धान्त हैं: संस्कृति की एक ही भौगोलिक इकाई—ग्राम—में विवाह-सम्बन्धों का निषेध, तथा जाति के नौ 'कुड़ा' या गोत्रों के भीतर विवाह-संबंधों का निषेध। इसमें से प्रथम का पालन कड़ाई से किया जाता है। दूसरे के संबंध में काफ़ी शिथिलता दिखाई पड़ती है। यद्यपि आज इन विभागों में अन्तर्विवाह-निषेध दिखाई नहीं पडता, तो भी उनकी परंपरा निःसंदेह प्राचीन है। संबंधियों को जिन शब्दों से संबोधित करते हैं उनके अध्ययन से भी इसी धारणा की पुष्टि होती है कि संभवतः बोंदो जाति में द्वि-संगठन प्रचलित था। सतपुड़ा पर्वत की उपत्यकाओं में रहने वाले गोंडों के संबंध-शब्दों का अध्ययन भी कुछ ऐसे ही निष्कर्षों की ओर संकेत करता है; किन्तु उसके आधुनिक सामाजिक संगठन की स्थिति को देख कर इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

अधिकांश जातियों में गोत्र-समूह (Phratry) और गोत्र (Clans) हमें सामजिक संगठन की महत्त्वपूर्ण इकाइयों के रूप में दिखाई पड़ते हैं। सामन्यतः व्यक्ति न अपने गोत्र के भीतर विवाह कर सकता है, और न अपने गोत्र-समूह के अन्य गोत्रों में। आदिलाबाद के राजगोंडों में गोत्र–समूह और गोत्रों का विभाजन इस प्रकार है :—

	गोत्र-समूह	गोत्र
१	येरवेन सगा (सात भाइयों का गोत्र-समूह)	मड़ावी, पुरका, कोरवेट्टा, मासेकोला, पाण्डेरा, वर्मा, मेश्राम
२	सारवेन सगा (छः भाइयों का गोत्र-समूह)	अ. पाण्डवेन सगा— अत्राम, गेडाम, तोड़ोसाम, कोट नाका, कोरेंगा, अड़ाम, कोड़ाम, दानाम, दुगाम, काचीमूर, वेलाडी, कोचेरा, विका, पेण्डुर, काटेले, उरवेन्ता, कुड़मेन्ता, वाडे ब. सर्पे सगा— तुमराम, कोडापा, राय-सिराम, वेटी, सवाम, मारापा, हेरे कुमरा, मण्डाड़ी।
३	सिवेन सगा (पाँच भाइयों का गोत्र-समूह)	अ. कुमरा, दरान्जा, आलम, अड़का आड़ा, गेड़ाम, किनाका, सुड़पम। ब. कुरसेंगा, कानाका, अनाका, जुंगनाका, वल्कल, पुसनाका, करपेटा, धुरवा, सोयाम, कोर्चा, काचाल, चिकाम, सड़ातल, पड़ातल।
४	नालवेन सगा (चार भाइयों का गोत्र-समूह)	पर्तेसाकी, शेरमाकी, सिराम, नैताम, मारपंची, सकाती, मंगाम, पुसाम, तालांदा, पोयाम, कुसराम, केड़ाम, टेकाम, कोवा।

अनेक जातियाँ ऐसी भी होती हैं जिनमें केवल गोत्र-विभाजन होता है, गोत्र-समूह का पृथक् संगठन नहीं होता। उदाहरणार्थ, छत्तीसगढ़ के कमार नामक आदिवासी समूह में निम्नलिखित गोत्र :—

१. जगत
२. नेसाम
३. मरकाम
४. सोरी — अ. वाघ सोरी
ब. नाग सोरी

५. कुंजाम

६. मरई

७. छेदइहा

गोत्र और गोत्र-समूह दोनों का संबंध अनेक समाजों में किसी विशिष्ट टोटम (Totem) से भी देखा जाता है। टोटम-वस्तु (Totem Object) वृक्ष, लता, पशु, पक्षी आदि कुछ भी हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि गोत्र अथवा गोत्र-समूह अपनी उत्पत्ति टोटम वस्तु से ही मानें, किन्तु पौराणिक गाथाओं तथा परंपरागत लोक-विश्वासों में उक्त समूहों का उन विशिष्ट वस्तुओं से कोई विशेष संबंध होना अत्यंत आवश्यक है। कमारों में उपर्युक्त गोत्रों की उत्पत्ति के संबंध में निम्नलिखित कथा प्रचलित है।

सृष्टि के निर्माण के पश्चात् पुनः एक बार जल-प्लावन हुआ। कमारों के निवास-क्षेत्र में चारों ओर से पानी आने लगा। जीवन-रक्षा के लिए कमार भागने लगे। भगवान् का भेजा हुआ यह जल-प्लावन गति में जंगली कमारों से कहीं अधिक तेज़ था, इसलिए शीघ्र ही उनका क्षेत्र चारों ओर से पानी से घिर गया। वे इस अनन्त जल-राशि को तैर कर पार नहीं कर सकते थे, इसलिए उन्होंने सहारे की खोज आरंभ की।

कमारों का एक दल कछुए की पीठ पर बैठ कर पार हुआ। वे **नेताम** गोत्र के कहलाये, और आज भी इस गोत्र के लोग अपने पूर्वजों के प्रति की गयी इस कृपा के बदले में, अपनी कृतज्ञता दर्शित करने के लिए, कछुए को न तो मारते हैं और न उसका मांस खाते हैं। एक अन्य दल मगर की पीठ पर बैठ कर जल-राशि पार करने का प्रयत्न कर रहा था। बीच समुद्र में मगर ने कहा, "मुझे भूख लगी है। मैं तुम सब को खा लूँगा।" भयभीत हो कर वे पानी में कूद पड़े। कुछ को मगर ने खा लिया, और कुछ अपने प्राण बचा कर कछुए के पास पहुँचे। "हमें भी पार ले चलो," उन्होंने कछुए से प्रार्थना की। "नहीं मेरे ऊपर पहले से ही बहुत बोझ है," कछुए ने उत्तर दिया। "मामा, हम पर दया करो। किसी तरह हमारे प्राण बचाओ!" वे गिड़गिड़ा कर बोले। "अच्छा, तुम सब मेरे भांजे हो! तब कोई हर्ज नहीं, तुम भी आ जाओ," कछुए ने कहा। इस दल के लोग बाद में **मरकाम** गोत्र के हुए। आज भी इस गोत्र का मगर से परंपरागत बैर है और कछुए से स्नेह। वे मगर को मार कर खाते हैं, कछुए को नहीं। सोरी गोत्र के लोग एक जंगली लता की सहायता से पार उतरे। दूसरे लोगों ने इसी तरह अपने-अपने सहारे खोज लिये। भूमि पर पहुँच कर उन्होंने एक वन में अस्थायी निवास-स्थान बना लिये। एक सोरी स्त्री गर्भवती थी। वन में उसके दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें एक शेर था, दूसरा सर्प। तब से सोरी गोत्र की दो शाखाएँ हैं—बाघ-सोरी, और नाग-सोरी। एक वृद्ध कमार अपने पुत्र के लिए वधू लाया था। उसके पति और वधू में अभी वैवाहिक संबंध स्थापित नहीं हो पाये थे कि सबको जल-प्लावन के कारण भागना पड़ा। वधू एक दिन सवेरे के समय अपने अस्थायी निवास-स्थान का आँगन साफ कर रही थी। बूढ़ा-देव का काला बकरा घूमते-फिरते वहाँ पहुँचा। युवती के सुडौल शरीर की ओर आकर्षित होते हुए ... सोचा, "अभी तक इस शरीर का स्पर्श किसी ने नहीं किया।" वासना से प्रेरित हो कर वह उसके समीप गया। पहले तो युवती ने हट् हट् चिल्ला कर उसे भगा देना चाहा; किन्तु थोड़ी देर बाद वह स्वयं उसके प्रति आकर्षित होने लगी। उसने पूछा, "और यदि बच्चे हुए तो?" "तो क्या?" बकरे ने उत्तर दिया, "वे सब कुंजाम-गोत्र के होंगे।" वे दोनों समीप-वर्ती वन में चले गये। तीन दिन बीत गये। चौथे दिन कुछ लोगों ने युवती को बकरे के साथ देखा और उसे गाँव में वापिस लाये। वह गर्भवती हो चुकी थी। उसकी संतति **कुंजाम** गोत्र की है। जाति की एक शाखा वन में चारों ओर भटकती फिर

रही थी। उसे जगत्-गोत्र मिला। भूख और थकावट से विवश होकर एक दल एक मरे हुए जानवर को खाने में जुट गया। उसे मरई-गोत्र मिला, और विना विशेष रूप से मारे गये जानवरों को छोड़ कर अन्य मरे हुए जानवरों का मांस खाने का निषेध कर दिया गया। बच्चों का एक दल असहाय अवस्था में पाया गया। उसे केदइहा-गोत्र दिया गया।

गोत्र-संगठन का स्वरूप और महत्त्व आदिवासी भारत के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न प्रकारों का है। संथालों में १०० से भी अधिक गोत्र है, हो जाति में लग-भग ५० और मुण्डा जाति में ६४। अनेक गोत्रों के नाम और टोटमों में आश्चर्यजनक समता है। मध्य-प्रदेश के गोंड, परधान आदि में गोत्र तथा उनसे संबंधित विश्वास एवं व्यवहार-प्रकार उल्लेखनीय हैं। हैदराबाद की कोलाम जाति में स्थानीय संगठन (Territorial Organization) था, गोत्र-विभाजन नहीं; किन्तु गोंडों के संपर्क तथा प्रभाव के कारण उन्हें यह संगठन अपनाना पड़ा। कमार जाति के गोत्र-विभाजन के संबंध में भी यही कहा जा सकता है। संभवतः इसी कारण इन जातियों की धार्मिक परंपरा में 'गोत्र' का स्थान उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि गोंड जाति में, जिसकी संस्कृति में उक्त संस्था का स्थान प्राचीन काल से ही अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा है। आदिलाबाद के राजगोंडों में गोत्रों के अपने विशेष देव तथा पौराणिक नायक होते हैं. जिनके सम्मान में वर्ष में एक या अधिक वार मेले, उत्सव अथवा विशेष प्रकार की पूजा का आयोजन किया जाता है। गोत्र के 'टोटम' के लिए भी ऐसे उत्सव हो सकते हैं। 'टोटम' संबंधी जो कतिपय अन्य व्यवहार-ग्रन्थियाँ (Complexes) हमें भारतीय आदिवासियों में दीख पड़ती हैं, वे 'टोटम' प्राणी के न मारने तथा उसके मांस, फल आदि न खाने, टोटम प्राणी की मृत्यु पर नाममात्र के लिए इस प्रकार शोक प्रकट करने जैसे किसी निकट संबंधी की मृत्यु पर किया जाता है, अथवा 'टोटम' वस्तु के किसी अंश को या उसके चित्र को अपने समूह के बोध-चिह्न के रूप में उपयोग करने से सम्बन्ध रखती हैं। कतिपय कमारों में गोत्र-उत्पत्ति के संबंध में जो लोक-विश्वास प्रचलित है उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि 'नेताम' कछुए को न मारते हैं न खाते हैं, और इसी तरह 'कुंजाम' बकरे को मारते या खाते नहीं है। शेर के मरने का समाचार सुन कर बाघ-सोरी शोक प्रकट करते हैं, घर में पानी छिड़कते हैं और एक हाँडी बाहर कर देते हैं। 'नाग सोरी' सर्प की मृत्यु पर यही करते हैं। इस प्रकार के विश्वास भारत के सैकड़ों आदिवासी समूहों में बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। गोत्रों में यह विश्वास भी पाया जाता है कि उनके टोटम का प्राणी या वस्तु संकट के समय रक्षा प्रदान करेगा, भविष्य बताने में सहायक होगा और भावी दुर्घटनाओं के संबंध में उन्हें पूर्व सूचना भी देता रहेगा। 'गोत्र' सामाजिक संगठन की इकाई के रूप में अन्तर्विवाह का निषेध अवश्य करता है। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि कतिपय जातियाँ ऐसी भी हैं जिनके गोत्रों का नाम-करण प्राणियों अथवा वृक्षादि के नाम पर है; किन्तु उसमें टोटम-वादी विश्वास एवं व्यवहार-परंपराओं का सर्वथा अभाव है। उदाहरणार्थ, बंगाल के बागड़ी, कोरा आदि लोगों में गोत्रों का नाम विभिन्न प्राणियों के नामों पर है; किन्तु उनके विश्वासों और प्रथाओं में गोत्रों और प्राणियों का कोई भी विशेष पारस्परिक सम्बन्ध लक्षित नहीं होता।

जिन समूहों में वैवाहिक सम्बन्धों का नियंत्रण गोत्र द्वारा नहीं होता, उनमें यह कार्य संस्कृति की की स्थानीय इकाई 'ग्राम' द्वारा किया जाता है। उत्कल के आदिवासी समूहों में इस प्रथा का प्रचलन है। वहाँ के जुआँग और कोंड अपने गाँव की लड़की से कभी विवाह नहीं कर सकते। डा० वैरियर एल्विन द्वारा वर्णित बोंदो जाति में यह विश्वास

है कि एक ही 'सोरू' की स्त्रियाँ गाँव के पुरुषों की माता और बहिन के समान होती हैं अतः उनसे विवाह करने की कल्पना भी असंभव है। जहाँ 'ग्राम' अथवा 'स्थानीय समूह' इस प्रकार विवाह-सम्बन्धों पर नियंत्रण नहीं करता वहाँ भी संस्कृति एवं सामाजिक संगठन की इकाई के रूप में उसका महत्त्व कम उल्लेखनीय नहीं होता। धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक–जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्थानीय समूह एक संगठित दल की भाँति कार्य करता है। अनेक उत्सव सम्पूर्ण स्थानीय समूह की ओर से आयोजित किये जाते हैं। मंत्र-बल के प्रयोग से हैजे तथा भूत-प्रेतों के अवांछनीय प्रभावों को भी स्थानीय समूह अपने संघटित प्रयत्न से दूर करता है। सामाजिक जीवन में नित्यप्रति की समस्याओं को पड़ोसी ही सुलझाते हैं। स्थानीय समूह के विभिन्न सदस्य परिवारों का पारस्परिक अन्तरावलंबन उल्लेखनीय होता है। शिशु के सामाजिक-सांस्कृतिक विकास की पृष्ठभूमि तथा प्रेरणा का स्रोत यही स्थानीय समूह होता है। व्यक्ति का समाजीकरण और संस्कृतिकरण इसी भूमि में होता है। व्यक्ति के संस्कृति-स्वीकृत गुणों और कार्यों को पुरस्कृत करके तथा उसके अनुचित कार्यों की भर्त्सना करके और उनके लिए उसे दण्डित करके स्थानीय समूह संस्कृति में संतुलन बनाये रखने में सहायक होता है। कतिपय आदिवासी समाज ऐसे हैं जिनमें यदि सामाजिक अपराधों को रोकने में स्थानीय समूह तत्परता नहीं दिखाता या उन्हें छिपाने का प्रयत्न करता है तो जातीय सत्ता पूरे गाँव को ही दण्डित करती है। आर्थिक क्षेत्र में भी इस स्थानीय समूह का महत्त्व कम नहीं होता। आखेट तथा संकलन करने वाली जातियों में सम्पूर्ण ग्राम द्वारा खाद्य-प्राप्ति के अनेक सामूहिक एवं संगठित प्रयत्न किये जाते हैं। सीमित क्षेत्र में स्थानीय समूह की जो महत्ता है, अपेक्षाकृत विशाल क्षेत्र में वही महत्ता ग्रामीण समुदाय (Village Community) की है, जिसका निर्माण अनेक स्थानीय समूहों के पारस्परिक सहयोग और सम्पर्क से होता है।

परिवार, गोत्र, गोत्र–समूह, द्वि-संगठन तथा स्थानीय समूह के अतिरिक्त भारत की प्राथमिक संस्कृतियों के सामाजिक संगठन की जिस इकाई का विश्लेषण आवश्यक है, वह है 'संबन्ध-प्रथा'। भारत के अधिकांश आदिवासी समूहों की संबन्ध-प्रथा वर्गात्मक (Classificatory) ढंग की है, विवरणात्मक (Descriptive) ढंग की नहीं। रक्त-संबन्धियों तथा विवाह–संबंधियों में भेद तो किया जाता है; किन्तु एक सीमा के बाद ये पंक्तियाँ धुँधली हो जाती हैं। विवरणात्मक प्रथा में, व्यक्ति जिससे संबंधित होता है, उसके साथ अपने संबन्ध को संबोधन-शब्द द्वारा स्पष्ट कर देता है। इसके विपरीत दूसरी प्रथा में वह केवल यह प्रकट करता है कि संबोधित व्यक्ति कतिपय सुनिश्चित संबन्धी-वर्गों में से किस विशेष वर्ग का है। टोडा जाति की संबन्ध-प्रथा के अध्ययन से इस संबन्ध-संगठन की विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, 'पिता' शब्द के अंतर्गत व्यक्ति के नैसर्गिक अथवा समाजी-कानूनी पिता के अतिरिक्त, पिता के सब भाई, गोत्र में पिता के आयु-वर्ग के अन्य पुरुष तथा मौसियों (माता की बहिनों) के पति भी आएँगे। उक्त सभी वर्गों के व्यक्ति एक दूसरे के बच्चों को 'बेटा' या 'बेटी' मानेंगे। ये सब एक दूसरे को 'भाई' अथवा 'बहिन' कह कर संबोधित करेंगे। भाइयों और बहिनों के संबोधन में आयु के अनुसार संबन्ध व्यक्त करने के शब्दों में अवश्य थोड़ा अन्तर होता है। अपने से बड़ों के लिए एक शब्द, समवयस्कों के लिए दूसरा शब्द और छोटों के लिए तीसरे ही शब्द का प्रयोग किया जाता है। किन्तु आयु पर आधारित विशेषण संबन्ध-प्रथा के मूल-भूत आधार को नहीं बदलते। दो भाइयों अथवा दो बहिनों के बच्चे एक–दूसरे को इस तरह भाई-बहिन ही मानते हैं, किन्तु भाई और बहिन के बच्चों के पारस्परिक संबन्ध एक सर्वथा अन्य धरातल के होते हैं।

सामान्यतः वे एक-दूसरे से विवाह कर सकते हैं, और इस प्रकार के विवाह को जाति विशेष रूप से औचित्य-पूर्ण मानती है। अतः उनमें वास्तविक रूप से विवाह हो अथवा न हो, जाति के संवन्ध-संगठन में वे 'पति' या 'पत्नी' के वर्ग में आते हैं। ससुर के पर्यायवाची शब्द का प्रयोग वास्तविक ससुर के अतिरिक्त माँ के भाइयों तथा पिता की बहनों के पतियों के लिए भी किया जाता है। अन्तिम दो श्रेणियों में आने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के बेटों को 'दामाद' और बेटियों को 'बहू' मानेंगे। विवरणात्मक प्रथा का सीमित प्रभाव सम्बन्ध-संघठन पर भी देखा जा सकता है। सगी बहन के बच्चों को वे 'मेरी बहिन के बच्चे' कहेंगे और गोत्र और सम्बन्ध-वर्ग की अन्य बहिनों के बच्चों को 'हमारी बहिन के बच्चे' कहेंगे। भारत के अन्य अनेक आदिवासी समूहों में अल्प-परिवर्तित रूप में यही समाज-व्यवस्था प्रचलित दिखाई पडती है। एक ही पीढ़ी तथा समान लिंग एवं समान सामाजिक स्थिति के अनेक सम्बन्धियों के लिए समान सम्बन्ध-द्योतक शब्द का प्रयोग इस सम्बन्ध-व्यवस्था के अंतर्गत किया जाता है। संबन्ध व्यक्तियों की अपेक्षा वर्गों में होता है, और इस कारण अनेक संबधियों को एक ही संबंध-द्योतक शब्द से संबोधित किया जाता है। उदाहरणार्थ 'ओजा' शब्द सेमा नागा लोगों में माँ, पिता के भाई की पत्नी और माँ की बहिन के लिए व्यवहृत होता है। उसी समाज में 'आप' शब्द से एक साथ पिता, पिता के भाई और माँ की बहिनों के पति का बोध होता है। आसाम के अंगामी नागा लोगों में 'भि' शब्द का प्रयोग इन संबंधियों के लिए किया जाता है:- पत्नी का बड़ा भाई, पत्नी के बड़े भाई की पत्नी, माँ के भाई की पत्नी, पिता के भाई की पत्नी, बड़े भाई की पत्नी आदि। छत्तीसगढ़ की कमार जाति के भी कतिपय ऐसे शब्द लीजिए। इस जाति में 'दादी' शब्द का प्रयोग पिता के पिता, पिता के पिता के भाइयों, माँ के पिता की बहिनों के पति, माँ के मामा तथा पत्नी पति या की माँ के पिता के लिए समान रूप से उपयोग में आता है। इसी तरह 'चाचा' शब्द का प्रयोग पुरुषों द्वारा दामाद के अतिरिक्त बहिन के पुत्र, पत्नी के भाई के पुत्र मामा के बेटे के बेटे तथा फूफी के बेटे के बेटे के लिये किया जाता है। इस प्रकार एक शब्द से अनेक संबंधियों को संबोधित किया जा सकता है, और इसके अनेक उदाहरण आदिवासियों की संबंध-शब्दावली में विना विशेष प्रयत्न के सहज ही मिल सकते है।

संबंध-व्यवस्था केवल संबंध-शब्दावली तक ही सीमित नहीं है। उसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के सबंधियों के बीच परंपरा द्वारा विकसित एवं अपेक्षित विशेष प्रकार की भावनाओं की स्थिति, कतिपय संबंधियों के बीच प्रत्यक्ष सम्पर्कों का निषेध एवं कतिपय अन्य संबंधियों के बीच अतिनैकट्य आदि समस्याएँ भी आती हैं। भारतीय आदिवासी समाज में भी आयु, पीढ़ी, संबंध, सामाजिक स्थिति तथा विशेष ज्ञान एवं अनुभव आदि एक व्यक्ति को दूसरे की दृष्टि में आदरणीय बनाते हैं। आदरणीय व्यक्ति के प्रति आदर करने वाला व्यक्ति अपनी सम्मान-भावना अनेक रूपों में व्यक्त करता है : उनके आने पर सदा खड़े हो कर, विशेष अवसरों पर उनके चरणों का स्पर्श करके, उनके सम्मुख बीड़ी आदि न पी कर, उनके सामने धीरे बोल कर आदि। एक-दूसरे का जूठा खाने एवं एक दूसरे का व्यक्ति-गत नाम लेने आदि के संबंध में भी संबंध-व्यवस्था के अंतर्गत अनेक जटिल नियम रहते हैं, जिनका स्वरूप आदिवासी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न है। मध्य-देश के अधिकांश आदिवासियों में एक ओर पुरुष एवं उसके छोटे भाइयों की पत्नियों में तथा दूसरी ओर उसके और उसकी पत्नी की बड़ी बहिनों में प्रत्यक्ष सम्पर्क-संबंध का निषेध रहता है। उनमें घनिष्ठता की अपेक्षा तो की ही नहीं जाती, उनका एक-दूसरे से बोलना, स्पर्श करना

अथवा किसी समय मकान में अकेले एक साथ रहना भी अनुचित समझा जाता है। इसके ठीक विपरीत कुछ संबन्ध ऐसे भी रहते है, जिनमें अति-नैकट्य, सख्य तथा हँसी-मज़ाक न केवल परम्परा द्वारा स्वीकृत ही रहते हैं, वरन् आवश्यक भी माने जाते हैं। पुरुष का अपनी भावज (बड़े भाई की पत्नी) तथा साली (पत्नी की छोटी बहिन) से इस प्रकार का संबन्ध प्रायः समस्त आदिवासी भारत तथा हिन्दू और मुस्लिम समाजों में उचित माना जाता है। विनोद के औचित्य की सीमाएँ इन समाजों में भिन्न हैं, किन्तु उपर्युक्त श्रेणियों के संबंधियों के बीच हँसी-मज़ाक का रिश्ता अवश्य रहता है। समधियों तथा समधिनों (वर-वधू के माता-पिता) के बीच भी ऐसा ही संबन्ध रहता है। इसी तरह पूर्वी भारत के हिन्दू समाज तथा मध्यदेश एवं पूर्वी भारत के आदिवासियों में व्यक्ति और उसके पौत्र-पौत्रियों में भी विनोद का संबन्ध रहता है। कमार जाति में व्यक्ति का नाती-नातिन के साथ जो विनोद-संबन्ध पाया जाता है उसके विश्लेषण से इन पंक्तियों का लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस जाति में ये विनोद-संबन्ध केवल उन श्रेणियों के व्यक्तियों में होते हैं जिनमें—व्यवहारिक दृष्टि से नहीं तो केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही—विवाह-संबन्धों का निषेध नहीं होता। यथा, व्यक्ति अपने बेटे के बेटे को दादी कहेगा और उसे अपना भाई मानेगा। वह अपने पुत्र की पुत्री को बहिन मानेगा। इन दोनों से उसका विनोद-संबन्ध नहीं होगा। इसके विपरीत वह अपनी कन्या की पुत्री को अपनी सखी मानेगा। और कन्या के पुत्र को अपना समधी। इन दोनों से उसका विनोद का संबन्ध होगा। स्त्री अपने पुत्र के पुत्र-पुत्री को क्रमशः समधी और सखी मानेगी और उनसे विनोद कर सकेगी, किन्तु वह अपनी पुत्री के पुत्र-पुत्री को भाई-बहिन मानेगी और उनसे हँसी-मज़ाक न कर सकेगी। आयु के बड़े अन्तर के कारण पितामह और पौत्री में विवाह होना तो प्रायः असंभव ही होता है, किन्तु कमार जाति में जिन पितामह-पौत्री में विनोद की अनुमति है उनमें यदि विवाह भी हो जाए तो वह परम्परा-सम्मत एवं उचित ही माना जाएगा, नियम-बाह्य नहीं।

प्राथमिक संस्कृतियों की समाज-व्यवस्था में वर्ग-भेद, आयु-भेद आदि के आधार पर जो संस्थाएँ संगठित होती हैं तथा जो विशेष प्रकार की गुप्त समाज-समितियाँ एवं क्लब आदि विकसित होते हैं, इन संस्कृतियों में उनका स्थान एवं महत्त्व भिन्न धरातल का होता है। उसी भाँति राजकीय संगठन, सत्ता तथा न्याय-व्यवस्था आदि भी प्राथमिक समाज व्यवस्था के अन्तर्गत अपना विशेष स्थान रखते हैं। उनके महत्त्व के अनुकूल उनका पृथक् विश्लेषण आवश्यक है।

[क्रमशः]

भारतीय साहित्य में दर्शन का आरम्भ

—जगदीशचन्द्र जैन

दर्शन का श्रीगणेश

आदिम समाज में मनुष्य को जब अपनी ही शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता था तब तत्कालीन समाज के सीमित वातावरण के कारण उनका जीवन इतना निश्चित था कि सामाजिक जीवन के विषय में उसके लिए विचार करना प्रायः असंभव था। जीविका-संचालन के लिए प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध उसे जो संघर्ष करना पड़ता, उसी में उसका सारा समय व्यतीत हो जाता था। परन्तु जब उत्पादन के साधनों में वृद्धि होने से मनुष्य ने आदिम साम्य-वाद से दास-युग में प्रवेश किया और दास-युग पार करके वह सामन्त-युग की ओर अग्रसर हुआ, तब एक ऐसे वर्ग की सृष्टि हुई जो स्वयं श्रम किये बिना दूसरों के अतिरिक्त श्रम से अपना निर्वाह करने लगा।

उधर क्रमशः वनिज-व्यापार में वृद्धि होने से गाँवों के स्थान पर नगरों का निर्माण हुआ, नगरों की जनसंख्या में वृद्धि हुई और अब तक जिन नैसर्गिक शक्तियों की देवता-रूप में उपासना की जाती थी उनसे मनुष्य का सम्बन्ध विच्छिन्न हो कर उसके जीवन में बौद्धिक और आर्थिक प्रधानता स्थापित हो गयी। इससे प्रकृति का स्थान समाज को मिला और शारीरिक श्रम-विहीन वर्ग ने व्यक्तिगत सुख के उपायों की खोज आरम्भ कर दी। समाज के परस्पर वर्ग-संबन्धों का समन्वय करने वाले दर्शन के प्रादुर्भाव का यही इतिहास है।

कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड की ओर

वैदिक काल में नैसर्गिक शक्तियों में कल्पित देवी-देवताओं की पूजा-उपासना ने क्रमशः यज्ञ का रूप धारण किया। ऐहिक जीवन को सुखपूर्वक चलाने के लिए जिन भौतिक साधनों की आवश्य-कता होती है उन्हें देवी-देवताओं की उपासना द्वारा प्राप्त करना ही इस यज्ञ-कर्म का मुख्य उद्देश्य था। इन यज्ञों को देवताओं से बढ़ कर माना जाने लगा; तथा धन, पशु, पुत्र, विजय, यश, ख्याति आदि ऐहिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए यज्ञ-याग किये जाने लगे।

परन्तु यज्ञ-विधि को सम्पन्न करने के लिए इतने कड़े नियम-उपनियमों का निर्माण हुआ कि उनका पालन करना ही असंभव हो गया। ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहा गया है कि हवि और वेदी को स्पर्श करने के पूर्व हस्त-प्रक्षालन न करने से यज्ञ व्यर्थ होता है; होम करते समय 'वषट्' को किसी समय जोर से बोलना चाहिए और किसी समय धीरे से; तथा देवों के क्रमशः अधिक-अधिक और असुरों के क्रमशः कम-कम होम करने के कारण देवगण संग्राम में विजयी हुए और असुरों की पराजय हुई। इसी प्रकार, यज्ञ में त्वष्टा के एक शब्द को ठीक-ठीक उच्चारण न करने मात्र से असुर का जन्म हुआ जिसे त्वष्टा के शत्रु इन्द्र ने मार डाला जब कि त्वष्टा उस असुर द्वारा इन्द्र का वध करना चाहता था। यज्ञ के सम्बन्ध में विधान है कि यज्ञ करते समय देवता का यथार्थ परिज्ञान होना चाहिए और विधिपूर्वक यज्ञ न करने से यजमानों की दुर्दशा होती है।

किन्तु मन्त्ररूप से किये जाने वाले कर्मकाण्ड-प्रधान यज्ञ-याग जनता की बढ़ती हुई ज्ञान-पिपासा

को अधिक समय तक शान्त न रख सके। आत्मा, परमात्मा और सृष्टि के सम्बन्ध में अनेक जिज्ञासाएँ होने लगीं। अपने अनुसन्धान को लक्ष्य करते हुए मनुष्य ने प्रश्न किया कि वह कौन-सा वृक्ष अथवा वन है जिससे इस सृष्टि का निर्माण हुआ? कभी इस सृष्टि का आधार एक देवता को बताया गया, कभी एक से अधिक देवताओं को। कभी विश्वकर्मा को, कभी हिरण्यगर्भ को, कभी मित्र-वरुण को, कभी अग्नि को, कभी इन्द्र को, कभी ब्रह्मणस्पति को और कभी पुरुष को इस विश्व का आधार बताया जाने लगा। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में इसी दार्शनिक गवेषणा का सर्वप्रथम प्रयास है।

उपनिषद्-काल का आरम्भ

यहीं से उपनिषद्-काल का आरम्भ होता है। उपनिषद् (उप+नि+सद्) का अर्थ है किसी के पास बैठना अर्थात् शिष्य का गुरु के समीप बैठ कर रहस्य का हृदयंगम करना। वेदों के अन्त में होने के कारण इन ग्रन्थों को वेदान्त भी कहा जाता है, यद्यपि वेद और उपनिषदों के विषय, विवेचन आदि में किसी प्रकार का साम्य दृष्टिगोचर नहीं होता। उपलब्ध उपनिषदों की संख्या सवा सौ से अधिक बतायी जाती है, परन्तु सर्वमान्य और महत्त्वपूर्ण प्राचीन उपनिषदों की संख्या बारह या तेरह है। साधारणतया प्राचीन उपनिषदों का काल बुद्ध-पूर्व (ई. पू. ७००–६००) माना जाता है, यद्यपि उपनिषदों की रचना मुगलों के समय तक होती रही, जब कि अल्लोपनिषद् की रचना हुई। सन् १६५६–५७ में बादशाह शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह ने उपनिषदों का अनुवाद फारसी भाषा में कराया। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में उनका फारसी से लैटिन में अनुवाद हुआ और वे शीघ्र ही यूरोप में प्रसिद्ध हो गये। जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहाउएर उपनिषदों पर अत्यंत मुग्ध था और सोने के पहले वह उपनिषदों का पाठ किया करता था। वस्तुतः उपनिषदों का निर्माण किसी कालविशेष का विषय न हो कर अनेक शताब्दियों के उद्योग का परिणाम है और ये ग्रन्थ अनेक दार्शनिकों के रचे हुए हैं। उपनिषदों के अधिकांश भाग संवाद-रूप में हैं जिनमें रूपक और दृष्टान्तों द्वारा सांकेतिक भाषा में वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन किया है।

उपनिषद्-कालीन समाज में वैदिक कर्मकाण्ड पर लोगों का विश्वास हटता जा रहा था और इन्द्र आदि वैदिक देवताओं की शक्ति में सन्देह होने के कारण जन-साधारण की वेदों में रुचि घटती जा रही थी। उन दिनों, सच्चा अग्निहोत्र क्या है, सच्चा वैश्वानर क्या है, मृत और जीवित शरीर में क्या अन्तर है, आत्मा क्या है, इत्यादि प्रश्नों की चर्चा यत्र-तत्र सुनायी पड़ती थी। इन्हीं कारणों से वेद-विद्या को हीन घोषित कर 'परा विद्या' कहा जाने लगा और अश्वमेध यज्ञ के स्थान पर समस्त विश्व को अश्व मान कर ज्ञान-प्रधान यज्ञ किये जाने लगे। यज्ञों के सम्बन्ध में कहा है—"यज्ञ क्षणस्थायी हैं। जो मूढ इनका अभिनन्दन करते हैं वे पुनः-पुनः जरा-मरण को प्राप्त होते हैं। तथा जो यज्ञ (इष्ट) और दान (पूर्त) आदि को ही श्रेष्ठ मानते हैं, वे स्वर्गलोक में पुण्य का अनुभव कर फिर से इसी हीन लोक में अवतरित होते हैं।"

क्षत्रिय सामंतों का प्रभुत्व

उपनिषद्-काल के सामन्त-युग में क्षत्रिय शासकों का विलासमय जीवन बढ़ता जा रहा था। कुरु, पंचाल, काशी, कोसल, विदेह, मत्स्य, शूरसेन, आदि जनपदों में आर्य लोगों के राज्य स्थापित हो गये थे। विदेह के राजा जनक उपनिषद्-काल के एक महान् दार्शनिक माने जाते थे जिन्होंने अपने ज्ञान और धन-वैभव के बल से बड़े-बड़े दिग्गज ब्राह्मण विद्वानों को अपनी मुट्ठी में कर लिया था। इन सामन्त राजाओं के दरबारों में बड़ी-बड़ी परिषदें होती थीं जिनमें दूर-दूर के विद्वान् शास्त्रार्थ

के लिए निमंत्रित किये जाते थे, और ब्राह्मणों को हज़ार-हज़ार गायें और सुवर्ण की विपुल राशि दान दे कर क्षत्रिय सामन्त अपने राज्य-शासन की नींव दृढ बनाते थे।

एक बार राजा जनक के दरबार में विद्वानों की एक परिषद् हुई। जनक ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया—

'अग्निहोत्र किसे कहते हैं, याज्ञवल्क्य ?'

'दूध अग्निहोत्र है, महाराज।'

'यदि दूध न हो तो किससे यज्ञ करोगे ?'

'चावल से, महाराज।'

तत्पश्चात् चावल के अभाव में जौ का, जौ के अभाव में ओषधि का, ओषधि के अभाव में वनस्पति का, और वनस्पति के अभाव में जल का निर्देश याज्ञवल्क्य ने किया।

'यदि जल भी न हो तो फिर किससे यज्ञ करोगे, याज्ञवल्क्य ?'

'सत्य से, महाराज।'

राजा जनक याज्ञवल्क्य के उत्तर से पूर्णतया संतुष्ट न हुए, फिर भी उन्होंने याज्ञवल्क्य को सौ गायें दान में दीं। अन्त में याज्ञवल्क्य ने जनक से ब्रह्म का उपदेश ग्रहण कर अपने को कृतकृत्य माना।

उपनिषदों में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं कि ब्राह्मण लोग सत्य का उपदेश लेने के लिए क्षत्रियों के निकट जाते थे। उदाहरण के लिए, पाँच महाश्रोत्रिय ब्राह्मण ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए उद्दालक आरुणि नामक ब्राह्मण के पास गये, परन्तु अपने आप को ज्ञानदान में असमर्थ पा कर उद्दालक उन्हें अश्वपति कैकेय नाम के क्षत्रिय राजा के समीप ले गये। इसी प्रकार गार्ग्य वाल्मिकि ने उशीनर, मत्स्य, कुरु, पंचाल और विदेह में परिभ्रमण करने के पश्चात् काशीराज अजातशत्रु के पास पहुँच कर, तथा उद्गीथ में कुशल शालावत्य शिलक और दाल्भ्य चैकितायन ने राजा प्रवाहण जैवलि के निकट जा कर उपदेश ग्रहण किया। छान्दोग्य उपनिषद् (५.३) में उल्लेख है कि श्वेतकेतु आरुणेय ने बारह वर्ष तक वेदाध्ययन किया किन्तु उसके गुरु ने उसे यह नहीं बताया कि मनुष्य इस पृथिवी पर कहाँ से और कैसे अवतरित होता है और मरने के पश्चात् कहाँ चला जाता है। राजा प्रवाहण जैवलि ने इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कहा कि इसके पूर्व ब्राह्मणों को इस विद्या का परिज्ञान नहीं था, इसलिए समस्त लोक में क्षत्रियों का प्रभुत्व स्थापित हुआ। ये प्रवाहण जैवलि ही पुनर्जन्म के आद्य पुरस्कर्ता माने जाते हैं।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त

सामन्तवादी युग में उपनिषदों के आविर्भाव का समय बहुत महत्त्वपूर्ण था। यह भारतीय दर्शन के निर्माण का काल था जिसे आधार मान कर उत्तरवर्ती भारतीय दर्शन को आगे बढना था। धन-सम्पत्ति की तरतमता के कारण सामाजिक वैषम्य उत्पन्न हो जाने से तत्कालीन समाज में जो प्रश्न उद्भूत हो रहे थे उनका उपनिषद्-कारों को समाधान करना था। वेदों में परलोक तो था परन्तु पुनर्जन्म की चर्चा नहीं थी। मनुष्य इस संसार में जन्म लेता है और श्वास निकल जाने पर यमलोक में पहुँच कर चिरकाल तक पितरों के साथ आनन्द का उपभोग करता है, यही वैदिक ऋषियों की मान्यता थी। ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी यही कहा गया है कि मनुष्य अपने पुण्य और पाप कर्मों से स्वर्ग तथा नरक प्राप्त करता है। इन ग्रन्थों में पुनर्जन्म, पुनर्मृत्यु और परलोक आदि के उल्लेख मिलते हैं।

परन्तु क्षत्रिय शासकों के लिए केवल परलोक की यह अमरता पर्याप्त न थी, अतएव धन-वैभव

का निराबाध और स्वच्छन्द रूप से भोग करने के लिए लोकोत्तरवाद का आविष्कार करना आवश्यक था। यज्ञ-याग मनुष्य को केवल देवलोक तक ही पहुँचा सकते थे, इसलिए कहा गया कि अपने-अपने कर्म फल से मनुष्य धनवान् और निर्धन बनता है। इसलिए किसी के धन को देख कर लोभ नहीं करना चाहिए तथा दान-पुण्य, यज्ञ-याग, आदि नित्य-नैमित्तिक कर्म करते रहना चाहिए, जिससे मनुष्य पुण्य-कर्म का उपार्जन कर अगले भव में उच्च कुल में जन्म पा सके। पुनर्जन्म के प्रतिष्ठापन के लिए कल्पना की गयी कि इस नैतिक और भौतिक संसार में पर्याप्त कारण के बिना कुछ नहीं हो सकता। अतएव मनुष्य के सुख-दुःख का कारण उसके पूर्व-संचित कर्म ही हैं। अपने सुख-दुःख के लिए हम स्वयं उत्तरदायी हैं, ईश्वर या अन्य कोई व्यक्ति सुख दुःख में कारण नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त इस संसार में दुर्जन लोग अपने ऐहिक जीवन में सफल देखे जाते हैं जब कि सज्जन पुरुषों को अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं, इसका कारण भी पूर्व-संचित कर्म ही हैं। नवजात शिशु के दुःख और कष्टों का कारण भी अदृष्ट को माना गया। क्रमशः यह कल्पना हुई कि एक जन्म के पुण्य-पापों का एक भव में पूर्ण रूप से उपभोग नहीं किया जा सकता, अतएव जन्म-जन्मांतर की मान्यता स्वीकार की गयी। तत्पश्चात् जन्म-जन्मांतर-रूप इस अनन्त संसार का कारण इच्छा बताया गया और इच्छा के नाश से मोक्ष की प्राप्ति स्वीकार की गयी। वस्तुतः पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धांत क्षत्रिय-शासकों की एक सुनिश्चित योजना थी जिसने समाज की स्थिरता को स्थापित कर मनुष्य के बुद्धि-स्वातंत्र्य को जकड़ दिया और उसे अज्ञान, दासता और दीनता के गर्त में ला पटका।

आत्मा के विषय में विविध मत

उपनिषद्-काल में क्रमशः आत्मा के सम्बन्ध में अनेक धारणाएँ प्रचलित हो गयीं। वैदिक काल के समान यहाँ भी मृत्यु के पश्चात् पुरुष की वाणी का अग्नि में, प्राण का वायु में, चक्षु का सूर्य में, मन का चन्द्र में, श्रोत्र का दिशा में, शरीर का पृथिवी में, आत्मा का आकाश में, लोम का ओषधि में, केश का वनस्पति में तथा रक्त और वीर्य का जल में समाविष्ट होना स्वीकार किया गया है। कहीं आत्मा को अन्न, प्राण, शरीर, मन, विज्ञान और आनन्दमय माना गया है, और कहीं उसे आदित्य, चन्द्र, विद्युत्, बिजली की कड़क (स्तनयित्नु), वायु, आकाश, अग्नि, जल, दर्पण, छाया, प्रतिध्वनि, शब्द, शरीर आदि के रूप में स्वीकार किया गया है।

परलोक-सम्बन्धी प्रश्न

इस सम्बन्ध में कठ उपनिषद् (१ १·२०-९) में नचिकेता और यम का संवाद उल्लेखनीय है। एक बार नचिकेता के पिता द्वारा अपनी सारी सम्पत्ति दान कर दिये जाने पर नचिकेता ने प्रश्न किया—"पिता जी, आपने मुझे किसे दान में दिया है?" पिता ने क्रोध में आ कर उत्तर दिया—"जा, तुझे मैं यमराज को दान देता हूँ!" यह सुन कर नचिकेता यमराज से मिलने चल दिया। परन्तु यमराज घर पर नहीं थे। उनके परिवार के लोगों ने नचिकेता से भोजन के लिए आग्रह किया परन्तु नचिकेता ने उत्तर दिया कि यमराज से बिना मिले वह भोजन नहीं करेगा। तीसरे दिन घर लौटने पर अभ्यागत को भूखे-प्यासे बैठा देख यमराज को बड़ा दुःख हुआ। यम ने नचिकेता से तीन वर मांगने को कहा। नचिकेता का तीसरा वर था—

"महाराज, कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा का अस्तित्व रहता है और कुछ कहते हैं, नहीं। कृपा कर मुझे ऐसा उपदेश दीजिए जिससे मैं इस रहस्य को समझ सकूँ।"

यमराज—"देखो, देवों ने भी पहले इस सम्बन्ध में संदेह किया था। यह अतिसूक्ष्म तत्त्व है,

नचिकेता ! इसके लिए आग्रह न करो, कोई दूसरा वर माँगो।"

परन्तु नचिकेता ने आग्रह न छोड़ा। यमराज ने उसे प्रलोभन देते हुए कहा, "देखो, तुम सौ वर्ष जीने वाले पुत्र-पौत्रों को माँग लो; हाथी, घोड़ा, सोना, चाँदी और यथेष्ट भूमि के स्वामी बन जाओ; तथा मैं तुम्हें सौ वर्ष की आयु प्रदान करने को तैयार हूँ, किन्तु हे नचिकेता, मृत्यु के सम्बन्ध में प्रश्न मत करो," आदि।

ब्राह्मण-ग्रन्थों से भी पता लगता है कि ब्राह्मण लोग परलोक-सम्बन्धी प्रश्न की गुप्त चर्चा किया करते थे। शतपथ ब्राह्मण में जारत्कारव और याज्ञवल्क्य का संवाद आता है। एक बार जारत्कारव ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया, "महाराज, मनुष्य की मृत्यु होने पर जब उसकी वाणी अग्नि में, श्वास वायु में, चक्षु सूर्य में, मन चन्द्र में, श्रोत्र दिशाओं में, शरीर पृथिवी में, आत्मा आकाश में, लोम ओषधि में, केश वनस्पति में तथा रक्त और वीर्य जल में प्रविष्ट हो जाते हैं, तो फिर मनुष्य का क्या होता है ?" इस पर याज्ञवल्क्य ने जारत्कारव का हाथ अपने हाथ में लेते हुए कहा, "जारत्कारव, चलो, इस विषय में हम दोनों अलग जा कर बातचीत करेंगे।" तत्पश्चात् याज्ञवल्क्य ने जारत्कारव को बाहर ले जा कर समझाया कि देखो, शुभ कर्म करने से मनुष्य भाग्यशाली और अशुभ कर्म करने से भाग्यहीन बनता है।

उपर्युक्त उल्लेखों से मालूम होता है कि उपनिषदों के दर्शनकार पुनर्जन्म-सम्बन्धी प्रश्न की जटिलता से भली भाँति परिचित थे और इसीलिए वे बहुत काल तक इस विषय में अपना निश्चित और असंदिग्ध मत नहीं बना सके थे। परन्तु जैसे-जैसे वर्ग-संघर्ष की तीव्रता बढ़ी और राज्य-शासन की नींव दृढ हुई, आत्मा और पुनर्जन्म की कल्पनाएँ स्पष्ट होती गयीं। इसके परिणाम-स्वरूप निश्चित रूप से घोषणा कर दी गयी—"जो सदाचरण-पूर्वक जीवन यापन करते हैं वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य योनि में जन्म धारण करते हैं; और जिनका आचरण अच्छा नहीं, वे श्वान, शूकर और चांडाल योनि में जन्म लेते हैं। शरीर, मन और अहंकार से भिन्न, अजर, अमर और अरूपी आत्मा की कल्पना का यह श्रीगणेश था, जो आगे चल कर भारतीय दर्शन का आधार-स्तंभ हुआ।

उपनिषदों का ब्रह्मवाद

क्रमशः उपनिषदों के दर्शन में ब्रह्मवाद का प्रवेश हुआ और इससे भारतीय दर्शन को एक नया रूप मिला। 'ब्रह्म' (बृह् = बढ़ना) शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों का एक मत नहीं है। ऋग्वेद में स्तुति के अर्थ में 'ब्रह्म' का प्रयोग किया गया है। अथर्ववेद में 'ब्रह्म' शब्द के अनेक अर्थ किये गये हैं। उसके विषय में कहा गया है कि उसकी शक्ति से आँख, जीभ, नाक, कान, त्वचा, मन और वाणी तेज़ हो जाते हैं और जो पदार्थ इसके साथ रहते हैं वे प्रभावोत्पादक बन जाते हैं। ब्रह्मयुक्त जल के सिंचन करने से शत्रुओं का नाश हो जाता है। जो कोई उसकी इच्छा करता है ब्रह्म उसे शांति प्रदान करता है और कवच की भाँति चारों ओर से उसे आवृत कर उसकी रक्षा करता है। जहाँ ब्रह्म किया जाता है (ब्रह्म क्रियते) वहाँ सब जीवित रहते हैं और कोई मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। ब्रह्म के प्रताप से रोगी स्वस्थ हो जाते हैं और मरे हुए लौट आते हैं। ब्रह्म के बल से भूत आदि भाग जाते हैं और पुरोहित राजा को विजयी बनाता है। अथर्ववेद में 'ब्रह्म' का अर्थ यज्ञ करते हुए ब्रह्म को अग्नि, इन्द्र, और सूर्य आदि देवताओं का आधार मान कर उसे देवताओं के बल का कारण माना गया है। तत्पश्चात् ब्रह्म को सृष्टि का आधार मान कर चन्द्र और सूर्य को उसकी आँखें बताते हुए ब्रह्मज्ञ पुरुष का ब्रह्मलोक में गमन अंगीकार किया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा है कि यज्ञ के समय होता (हवन करने वाले) का मन्त्र-पाठ, गायक का साम-पाठ और अध्वर्यु का अग्नि-होत्र, ये सब ब्रह्म के उपस्थित होने पर ही पवित्र समझे जाते हैं तथा ब्रह्म से धन, पशु, राज्य आदि इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति होती है। ब्राह्मण-काल में शुक्र और मंथि नाम के दो पात्रों को रख कर ब्रह्म का आह्वान किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि उससे पूर्व कुछ नहीं था और उससे बढ़ कर भी कुछ नहीं है। आकाश और पृथ्वी का वह आधार है। यहाँ पर ब्रह्म से राक्षसों का वध करने की प्रार्थना की गयी है। ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा है कि ब्रह्म को समझ कर उसकी उपासना करनी चाहिए। जो ब्रह्म के चारों ओर मृत्यु के प्राप्त होने की विधि का पालन करता है वह ब्रह्मवान् हो जाता है और उससे द्वेष करने वाले प्रतिस्पर्धी और अप्रिय शत्रु मृत्यु को प्राप्त होते हैं। विद्युत्, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य, और अग्नि ये पाँच देवता ब्रह्म के चारों ओर मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं। यह ब्रह्म पुरुष में भी है और आदित्य में भी, वह एक है। अन्य स्थल पर अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर अश्व को लक्ष्य करते हुए कहा है कि हे अश्व! यदि कोई तुझे कोड़े आदि से चोट पहुँचाएँ अथवा अन्य किसी प्रकार की बाधा दें तो मैं ब्रह्म को बुला कर उन सब को यहाँ से भगा दूँगा। इन उल्लेखों से मालूम होता है कि उपनिषद्-पूर्व वैदिक काल में ब्रह्म को विद्या अथवा मन्त्र शक्ति मान कर उसे सर्व आपदाओं से रक्षा करने में समर्थ माना जाता था।

उपनिषद्कारों ने ब्रह्म को अनेक रूपों में प्रतिपादित किया है। कहीं ब्रह्म को जल के रूप में, कहीं अग्नि के रूप में, कहीं सूर्य के रूप में, कहीं विद्युत् के रूप में, कहीं आकाश के रूप में और कहीं प्राण के रूप में स्वीकार किया गया है। केन उपनिषद् (३.४) में ब्रह्म और देवताओं की कथा आती है। एक बार ब्रह्म देवताओं के समक्ष उपस्थित हुए। देवताओं ने अभ्यागत को पहचानने के लिए पहले अग्नि को भेजा किन्तु वहाँ पहुँच कर वह एक तिनके को भी न जला सकी। फिर वायु को भेजा, वह भी एक तिनके तक को न उड़ा सकी। फिर इन्द्र को भेजा गया। उसने उमा की सहायता से पता लगाया कि वह ब्रह्म है और उसके बल से अग्नि, वायु और इन्द्र आदि देवता अपना-अपना कार्य करने में समर्थ होते हैं। इससे पता लगता है कि शनैः शनैः ब्रह्म के स्वरूप में परिवर्तन हुआ और वह किस प्रकार "मूर्त से अमूर्त, मर्त्य से अमर्त्य, स्थित से अस्थित और सत् से त्यत्" के रूप में बदल गया। आगे चल कर तो समस्त वैदिक देवताओं में एक मात्र अद्वितीय ब्रह्म रह गया और निर्गुण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य आदि मान कर उसकी आराधना होने लगी।

ब्रह्म की अनिर्वचनीयता

बृहदारण्यक उपनिषद् (३.६.१) में गार्गी और याज्ञवल्क्य का एक महत्त्वपूर्ण संवाद आता है। गार्गी ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया—

"याज्ञवल्क्य! यह समस्त विश्व जल में ओत-प्रोत है, परन्तु जल किसमें ओत-प्रोत है?"

"वायु में, गार्गी।"

"वायु किस में ओत-प्रोत है?"

"अन्तरिक्ष में। अन्तरिक्ष गंधर्व-लोक में, गंधर्व-लोक आदित्य-लोक में, आदित्य-लोक चन्द्र-लोक में, चन्द्र-लोक नक्षत्र-लोक में, नक्षत्र-लोक देव-लोक में, देव-लोक इन्द्र-लोक में, इन्द्र-लोक प्रजापति-लोक में और प्रजापति-लोक ब्रह्म-लोक में ओत-प्रोत है।"

"ब्रह्म-लोक किसमें ओत-प्रोत है, याज्ञवल्क्य?"

"यह अतिप्रश्न है, गार्गी! तू यह प्रश्न मत कर, अन्यथा तेरा सिर कट कर गिर पड़ेगा।"

ब्रह्म-विवेचन के लिए उपनिषद्-साहित्य में अनेक स्थलों पर निषेधात्मक रहस्यवादी भाषा का उपयोग किया गया है। जैसे वह यह भी नहीं, वह भी नहीं (नेति नेति); न वह स्थूल है, न सूक्ष्म, न ह्रस्व, न दीर्घ, न रक्त, न चिपचिपा, न छाया, न तम, न वायु, न आकाश, न स्पर्श-रस-गंध-युक्त, न आँख-कान-वाणी-मन-प्राण-मुख-युक्त, न आन्तरिक, न बाह्य, न वह किसी को भक्षण करता है, न कोई उसे। कठ और केन आदि उपनिषदों में इस प्रकार की प्रहेलिकामय अज्ञेयवादी भाषा जगह-जगह प्रयुक्त की गयी है। जैसे, जो जानते हैं वे नहीं जानते, और जो नहीं जानते वे उसे जानते हैं। वह छोटे से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा है। वह प्रवचन, बुद्धि और बहु-पांडित्य से प्राप्य नहीं। न वह आन्तरिक प्रज्ञा वाला है न बाह्य प्रज्ञा वाला, न उभय प्रज्ञा वाला, न प्रज्ञाघन, न प्रज्ञ और न अप्रज्ञ। वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य और अव्यपदेश्य है। आगे चल कर तो वाष्कलि ऋषि द्वारा ब्रह्म के विषय में प्रश्न किये जाने पर बाध्व ऋषि ने मौन का अवलंबन कर तूष्णींभाव से "उपशान्तोऽयमात्मा" (यह आत्मा उपशान्त है) आदि वाक्यों द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन किया। ब्रह्मवाद के दर्शन का यह चरम विकास था जब कि ब्रह्म को अनिर्वचनीय कह कर बुद्धि के बाह्य ठहरा दिया गया।

कहने की आवश्यकता नहीं कि तर्क के बाह्य, वाणी और मन के अगोचर, अनिर्वचनीय, श्रद्धागम्य, एक तथा अद्वितीय ब्रह्म की खोज में भोजन-पान की चिन्ता से विनिर्मुक्त उच्च वर्ग के लोग ही अपना सिर खपा सकते थे। दिन-रात रोटी-दाल की चिन्ता में निमग्न साधारण जनों को उसे मनन, निदिध्यासन और उस पर सोचने-विचारने का अवकाश नहीं था। सत्ताधारी लोगों को यही इष्ट भी था, क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि उनका तत्त्वज्ञान सर्व-साधारण तक पहुँचे और जन-समुदाय उनकी उपनिषदों (परिषदों) में भाग ले। इसीलिए तो ब्रह्मज्ञान को गोपनीय घोषित कर सर्वसाधारण के लिए उसके उपदेश का निषेध कर दिया गया।

ब्रह्म और आत्मा की अभिन्नता

उपनिषदों के आरंभ-काल में आत्मा और ब्रह्म को भिन्न-भिन्न मान कर उन्हें पृथक्-पृथक् विश्व का आधार माना गया है। परन्तु आगे चल कर दोनों को अभिन्न मान कर यह घोषणा कर दी गयी कि महान्, अजन्मा, अजर, अमर और अभय आत्मा ही ब्रह्म है। इसीलिए विश्व और ब्रह्म तथा ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य स्वीकार कर उद्दालक आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को 'तत्त्वमसि' (वह तू ही है) को आठ बार उच्चारित करने के लिए बाध्य किया था।

सृष्टि-सम्बन्धी मान्यताएँ

ऋग्वेद में कहा है कि जैसे लुहार वस्तुओं को तैयार करता है उसी प्रकार ब्रह्मणस्पति ने आकाश-पृथ्वी आदि की रचना की। ब्राह्मण-ग्रन्थों में उल्लेख है कि प्रजापति ने इच्छा की कि मैं अनेक-रूप हो जाऊँ। उसने तपश्चरण से पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश की सृष्टि की। अन्यत्र कहा है कि पहले असत् था उससे धूम, अग्नि, प्रकाश, किरण, वाष्प, मेघ आदि की सृष्टि हुई और तत्पश्चात् प्रजापति ने पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश की रचना की। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि प्रजापति ने त्रयी विद्या को ले कर जल में प्रवेश किया। उससे एक अण्डा पैदा हुआ और फिर मिट्टी, सोना, पौधे, वृक्ष आदि की उत्पत्ति हुई।

उपनिषदों में भी सृष्टिविषयक अनेक मत दृष्टिगोचर होते हैं। यूनान के प्रथम दार्शनिक थेलीज़ की भाँति उपनिषद्कारों ने कहा है कि पहले सर्वत्र जल ही जल था। फिर जल से पृथिवी, अन्तरिक्ष,

आकाश, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, जंगली जानवर, और कीट, पतंग उत्पन्न हुए। परन्तु जान पड़ता है कि उपनिषद्कार अपने विचारों में उत्तरोत्तर दार्शनिक होते जा रहे थे। इसलिए आगे चल कर कहा गया है कि आत्मा जल से पूर्व उत्पन्न हुई, आत्मा ने जल की सृष्टि की और जल से पुरुष हुआ। फिर पुरुष के मुख, वाणी, नासिका, प्राण-वायु आदि का जन्म हुआ। तत्पश्चात् स्वर, प्राण, अन्न, जल और लोक को साम की और आकाश को लोक की गति प्रतिपादन करते हुए कहा है कि यह भूत आकाश से उत्पन्न हुआ है, और उसी में समा जाता है, अतएव सब से महान् आकाश है।

कहीं-कहीं उपनिषदों में भी असत् से सत् की उत्पत्ति मानी है। जैसे, पहले असत् से सत् हुआ, उससे अण्डे का जन्म हुआ। यह अण्डा एक वर्ष पश्चात् फूटा। उसका एक टुकड़ा चाँदी और दूसरा सोना बन गया। फिर अण्डे के ऊपर के छिलके से पर्वत, अन्दर के हिस्से से मेघ और कुहरा, धमनियों से नदियाँ और उसके पानी से समुद्र उत्पन्न हुआ। किन्तु आगे जा कर जब प्रश्न उपस्थित हुआ कि असत् से सत् कैसे हो सकता है, तो सत् को असत् का उत्पादक मान लिया गया। तत्पश्चात् असत् से तेज, तेज से जल, जल से अन्न की सृष्टि हुई। फिर अन्न से जीवात्मा आदि उत्पन्न हुए।

एक बार गार्गी ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया कि आकाश के ऊपर, पृथिवी के नीचे और दोनों के बीच में क्या है? तथा भूत, वर्तमान और भविष्य क्या है? इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा कि ये सब आकाश में और आकाश अक्षर (अविनाशी ब्रह्म) में ओत-प्रोत है। तथा इस अक्षर के शासन से ही सूर्य-चन्द्र, आकाश-पृथिवी, निमेष, मुहूर्त, संवत्सर आदि अपनी जगह स्थित हैं, और नदियाँ बर्फीले पहाड़ों से बहती हैं। कहीं-कहीं तो यहाँ तक कह दिया गया कि अग्नि, वायु और इन्द्र तक ब्रह्म की सहायता के बिना एक तृण भी नहीं हिला सकते, तथा सूर्य और अग्नि ब्रह्म के कारण ही तपते हैं, तथा इन्द्र, वायु और मृत्यु इसी के भय से प्रवृत्ति करते हैं। इस तरह ब्रह्म को ही सृष्टि का एकमात्र आधार स्वीकार कर लिया गया। आगे जा कर इसी ब्रह्म के ऊपर शंकराचार्य ने वेदान्त दर्शन की नींव रक्खी।

ब्रह्म-ज्ञान की प्रधानता

उपनिषद्-साहित्य में ज्ञान पर अत्यधिक भार दिया गया है, इसलिए इस साहित्य में चरित्र अथवा नैतिकता गौण रह गयी है। उपनिषद्-कालीन समाज में बहुदेववाद और यज्ञ-यागों की ओर से जन-समुदाय का घटता हुआ विश्वास देख कर क्षत्रिय शासकों ने वर्ग-स्वार्थ की भावना से प्रेरित हो सामाजिक वैषम्य कायम रखने के लिए ब्रह्मवाद को विस्तारित किया था। इसीलिए उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान द्वारा अज्ञान-नाश को ही मुख्य मान कर उसी से चरम उद्देश्य की प्राप्ति स्वीकार की गयी है।

उपनिषदों में कहा है कि जो इसे (ब्रह्म) जानता है उसे स्वर्ग-लोक की प्राप्ति होती है और उसका कोई शत्रु नहीं रहता। जो कोई आदि-ब्रह्म को सत्य समझता है, उसे कोई नहीं जीत सकता और वह अपने शत्रु पर विजय प्राप्त कर उसका नाश कर देता है। जो ब्रह्म को जानने वाले का अनिष्ट-चिन्तन करता है वह चट्टान से टकराने वाले मिट्टी के ढेले के समान चकनाचूर हो जाता है। तथा जो उसको सत्य, ज्ञान और अनन्त-रूप जान जाता है, उसकी समस्त इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं।

उपनिषद्कारों ने ज्ञान और क्रिया में ज्ञान को मुख्य मान कर घोषणा की है कि जो ब्रह्म को जानता है वह चाहे कितना ही पाप क्यों न करे, सर्व पापों से विमुक्त हो कर शुद्ध, पवित्र और अजर-अमर हो जाता है। तथा जो उसको जानता है वह चाहे

चोरी, प्राणहत्या, मातृ-वध और पितृ-वध जैसे घोर पाप भी कर ले तो भी उसका परलोक नष्ट नहीं होता और सुवर्ण-चोर, सुरापायी, ब्रह्मघातक आदि पापी जनों के सम्पर्क में रह कर भी वह पाप-लिप्त नहीं होता। देव आदि की पूजा-आराधना को निष्फल बताते हुए यहाँ तक कहा गया है कि जो उसे (ब्रह्म को) बिना जाने अग्निहोत्र करता है वह अंगारों की जगह राख पर होम करता है। तथा "दूध से एक वर्ष तक अग्निहोत्र करने से पुनः पुनः मृत्यु नहीं होती"—जो इस विधान की निरर्थकता को समझ कर होम करता है वह उसी समय से पुनर्मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

सदाचरण की विशेषता

शनैः शनैः सदाचार के नियमों पर जोर दिया जाने लगा। इसके फल-स्वरूप कहा गया कि जो दुश्चरित है, वह केवल प्रज्ञा के बल से उसे नहीं पा सकता; तथा, 'सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय करो, माता-पिता, आचार्य और अतिथि को देव-तुल्य समझो, दूसरे की धन-दौलत देख कर लोभ न करो,' इत्यादि। वास्तव में पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धांत के कारण उपनिषदों में नैतिकता के सिद्धान्तों का महत्त्व बढ गया। ये दोनों सिद्धांत क्षत्रिय शासकों को बहुमूल्य अस्त्र के रूप में मिल गये थे जिनके बल पर वे सामाजिक ढाँचे को बदले बिना ही परलोक में अनन्त सुख आदि के मिथ्या प्रलोभनों द्वारा लोगों को सज्जन और धर्मात्मा बनाने की चेष्टा कर रहे थे।

क्रमशः तप, शम, दम और वैराग्य को प्रधान मान कर इन्द्रिय-सुख के स्थान पर इन्द्रिय-बाह्य नित्य सुख की मुख्यता स्वीकार की गयी, किन्तु इससे भी कोई विशेष लाभ होता हुआ दिखाई नहीं दिया। निर्धनों को तो लाभ होने का प्रश्न ही नहीं था, क्योंकि उनके पास सीमित धन था, जिसे वे आवश्यकता होने पर खर्च कर दिया करते थे। जो समृद्धिशाली इने-गिने लोग इन्द्रिय-जन्य सुख के अत्यधिक भोग से तंग आ गये थे, उन्हें भी इस उपदेश से कोई लाभ न हुआ। इसी तरह जो लोग अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति की चिन्ता किये बिना समाज-सेवा आदि करना चाहते थे, उन्हें भी इस योजना से कोई लाभ दृष्टिगोचर न हुआ।

तत्पश्चात् सुख के स्थान पर गुणों की मुख्यता को महत्त्व दिया गया। इस मान्यता के अनुसार काम-भोग, धन-धान्य, पुत्र-पौत्र आदि की असारता पर जोर देते हुए संसार को, यहाँ तक कि जीवन की इच्छा को, त्यागने का उपदेश दिया गया, जिससे आत्म-हनन को श्रेयस्कर माना जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि वैदिक काल का सीधा-सादा, सरल और आडंबरशून्य जीवन निराशावाद के रूप में परिवर्तित हो गया।

पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धान्त के बन्धन

वस्तुतः दैहिक जीवन की दुर्बलता और निष्फलता से लोकोत्तरवाद का जन्म हुआ जिससे इहलोक के सुख-दुःखों के स्थान पर परलोक के सुख-दुःखों को विशेष महत्त्व दिया गया और पारलौकिक सुख को लक्ष्य मान कर ही इस लोक में समस्त प्रयत्न किये जाने लगे। इससे दीर्घकालीन सामाजिक विषमता के कारण जो गन्दगी इकट्ठी होती आ रही थी वह बढती ही गयी। जीवन में परलोक की मुख्यता होने से व्यक्ति का देश की राजनीति से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया, वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता का अनुभव न हुआ, धन के प्रति उदासीनता और संतोष की भावना को प्रोत्साहित किया गया तथा संसार को मिथ्या सिद्ध करने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाया जाने लगा। सुख-दुःख में सम तथा काम, भय और क्रोध-विहीन ब्राह्मी स्थिति की कल्पना की गयी और यह घोषणा की गयी कि आध्यात्मिक विकास की इस चरम दशा को प्राप्त व्यक्ति यदि किसी की हत्या भी कर दे तो वह पाप का भागी नहीं होता, क्योंकि आत्मा अजर-

अमर है, न कोई उसे मारने वाला है, न वह स्वयं मृत्यु को प्राप्त होती है। यह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में गरमी, सरदी, भूख, प्यास और सुख-दुःख से अतीत है, क्योंकि यह संसार माया है। अतएव मनुष्य को गरीबी में भूखे रह कर भी संतोष रखना चाहिए और किसी के धन की ओर आँख उठा कर न देखना चाहिए। तथा इस प्रकार की सम-अवस्था प्राप्त कर लेने पर ही मनुष्य की दरिद्रावस्था का नाश हो सकेगा, क्योंकि वास्तव में एक ब्रह्म ही सत्य है। ऐसी दशा में न कोई पीडित है और न पीडा देने वाला, अतएव किसी प्रकार के फल की अपेक्षा न करके स्वकर्म में रत रहना ही मनुष्य का परम लक्ष्य होना चाहिए।

उपनिषदों का रहस्यवाद

उपनिषद्कारों ने वैदिक समाज के प्राकृतिक देवी-देवता और कर्मकाण्ड-प्रधान यज्ञ-यागों के स्थान पर इस विश्वसंबंधी ऊहापोहात्मक गवेषणाओं को प्रोत्साहित करके निश्चय ही भारतीय तत्त्व-चिंतन को आगे बढाया था, परन्तु उपनिषद्-साहित्य का निर्माता शासक-वर्ग अपने वर्ग-स्वार्थ के कारण ब्रह्मवाद के जाल से अछूता न रह सका। पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धांत ने इस जाल को और दृढ बना दिया। परिणाम यह हुआ कि उपनिषदों के रहस्य-वाद ने मनुष्य की बुद्धि कुंठित कर दी और वैराग्य-प्रधान निराशावाद ने उसे बलहीन और निष्क्रिय बना दिया, जिससे समाज की अपरिवर्तनशीलता के कारण उसकी प्रगति अवरुद्ध हो गयी। उपनिषदों के ऊपर आधारित भारतीय दर्शनों ने समय-समय पर इस क्षति को पूरी करने का प्रयत्न किया, परन्तु वे सफल न हो सके।

अभी तक कोई ऐसा दार्शनिक नहीं हुआ, जो दाँत के दर्द को सन्तोष से सहन कर सके।

—शेक्स्पियर

होरेशियो, तुम्हारे दर्शन में जिन चीज़ों का स्वप्न देखा जाता है, उनसे कहीं अधिक चीजें स्वर्ग में और भूमि पर हैं।

—शेक्स्पियर

क्या निस्तब्ध रात्रि के उस पार एक अन्तहीन दिवस है? क्या मृत्यु एक ऐसा द्वार है जो हमें प्रकाश की ओर ले जाता है? हम नहीं कह सकते।

—इंगरसोल

वह संवेदन शील

—भवानीप्रसाद मिश्र

कोयल अगर रात में गाती है,
तो रजनी की शांत
और निस्तब्ध घड़ी
कुछ चौंक न जाती है।
मेरे मन का धुँआ
हवा पर रेख न खींचेगा;
जुगनू चमके,
स्नेह सितारा उस पर सींचेगा।
विश्व-प्रकृति का सिंधु
गहर-गंभीर—
मेरे सुख-दुख की लहरों की
पीर नहीं उसको;
किंतु अगर
मै बिना लहर का हो बैठूँ,
अपने सुख-दुख ही
खो बैठूँ,
तो वह संवेदन-शील
एक तूफ़ान उठाएगा;
हम अगर
न हम रह जायँ,
तो वह
व्याकुल हो जाएगा!

असितकुमार हालदार

—कृष्ण चैतन्य

कला के इतिहास में कोई युग ऐसा नहीं हुआ जो मत-भेद और सिद्धान्तविषयक विवादों से रहित हो; और बड़े-बड़े मतिमान् भी अपने युग की भावनाओं के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके। इस प्रकार की एकांगी भावनाओं की 'छूत' से बचने का एक बहुत अच्छा उपाय यह है कि विश्व-कला के इतिहास का अध्ययन किया जाय। तभी हमें इसका बोध होता है कि प्रायः जिन्हें हम विश्व-व्यापी सिद्धान्त मान बैठते हैं वे वास्तव में हमारी अपनी धारणाएँ हैं।

उपर्युक्त तथ्य पर ध्यान देना वर्तमान युग में विशेष रूप से आवश्यक है, क्योंकि आधुनिक कलाकार प्रायः यह नहीं समझ पाते कि अपने निज के आदर्शों के प्रति विश्वास और भक्ति रखने का अर्थ पिछले आदर्शों का एकान्त तिरस्कार नहीं है।

यह ठीक है कि बंगाल में कला का जो पुनरुज्जीवन हुआ वह अजन्ता के आदर्शों के प्रति बहुत अधिक झुका हुआ था—और थोड़ा-बहुत राजपूत तथा मुग़ल-कला के आदर्शों के प्रति भी। किन्तु यदि कोई कलाकार, या कलाकारों की पीढ़ी, अपने भावों को व्यक्त करने का आदर्श साधन अतीत में विकसित शैली को मान लेते हैं, तो इसके कारण का पता ऊपरी विश्लेषण के द्वारा नहीं लगाया जा सकता। जब यूरोप में कैथोलिक मत को सुधारवादियों का सामना करना पड़ रहा था, उस समय एल ग्रेको जैसे चित्रकार ने इटली के माइकेल एंजेलो आदि कलाकारों की उत्कृष्ट स्वभाविकता को छोड़ कर आदिम क्रिश्चियन कला के अदर्शों का आश्रय लिया। यह कला उस युग में विकसित हुई थी जब क्रिश्चियन लोग तत्कालीन रोमन शासकों द्वारा सताये जा कर तहखानों और गुफाओं में छिप कर अपना जीवन बिता रहे थे। ग्रेको अपने पुनःप्राप्त धार्मिक विश्वास को तीव्रता और दृढता के साथ अभिव्यक्त करना चाहता था और उसने समझ लिया कि इस काम के लिए आदिम क्रिश्चियन कला को उपयोग में लाया जा सकता है। यही बात बंगाल के कला-सम्बन्धी पुनरुज्जीवन के विषय में कही जा सकती है। उस युग में, जब विदेशी शासन से मातृभूमि को मुक्त करने ने लिए स्वयंसेवकों के जत्थे राजनैतिक मोर्चे की ओर कूच कर रहे थे, कला के पुनरुज्जीवक अपनी राष्ट्रीय संस्कृति को विदेशी संस्कृति के क्षयकारी प्रभाव से बचाने के प्रयत्न में लगे हुए थे। फलतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि कला के इन उपासकों ने अपने भावों की अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन अतीत के कलादर्शों को माना।

आज भारत स्वाधीन है, और आज हमारे सामने समस्या यह नहीं है कि स्वाधीनता कैसे मिले, बल्कि यह है कि इस स्वाधीनता को सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में किस प्रकार वास्तविक बनाया जाए। कला के सामने भी कुछ इसी तरह की समस्या है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आज के कलाकार इस तथ्य को भूल जाएँ कि पहाड़ी शैली की अवनति के बाद समस्त भारत में कला-प्रेम को जागरित करने का श्रेय बंगाल के कला-पुनरुज्जीवन को ही है। समस्त देश के कला-केन्द्रों और विद्यालयों के शिक्षक यहीं से गये थे।

समर गुप्त लाहोर के आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल बने, मुकुल दे कलकत्ता के और डी. पी. राय चौधरी मद्रास के। शारदा उकील ने नई दिल्ली के आर्ट स्कूल की स्थापना की। नन्दलाल बोस अब भी शान्ति-निकेतन में कला के शिक्षक हैं। प्रमोद चटर्जी ने मसुलीपटम की आन्ध्र जातीय कलाशाला में तथा बड़ोदे के कला-भवन में कला-शिक्षण का काम किया, और वेंकटप्पा ने मैसूर में। असित कुमार हालदार लखनऊ के आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल हुए।

कलाकार को स्वभावतः शासन-प्रबन्ध में रुचि नहीं होती। और हालदार पहले भारतीय कलाकार थे, जिन्हें एक सरकारी आर्ट स्कूल का अध्यक्ष बनाया गया, किन्तु उन्होंने इस पद को बड़ी योग्यता के साथ सँभाला और लगभग बीस वर्ष तक स्कूल को सुव्यवस्थित रूप से चलाया।

हालदार ऊँचे क़द के और सुन्दर आकृति के व्यक्ति हैं, और साठ वर्ष की अवस्था में भी उनकी चाल-ढाल युवकों की सी है। इस साठ वर्ष का तीन चौथाई भाग उन्होंने कला की सेवा में लगाया है। हालदार और नन्दलाल बोस जब विद्यार्थी थे तब सम्राट् पञ्चम जार्ज कलकत्ते आये थे। उनके स्वागत के लिए जो शामियाना बनाया गया था, उसको सजाने का काम इन्हीं दोनों तरुण कलाकारों ने किया था। हालदार के प्रारम्भिक चित्र, भित्ति-चित्रों की शैली पर बने हुए, बड़े आकार के हैं। हालदार बहुत अच्छे अध्येता हैं और एक उत्तम लेखक के रूप में भी प्रसिद्धि पा चुके हैं। उन्होंने कालिदास के "मेघदूत" का बंगाली में पद्यानुवाद किया है, और इस ग्रन्थ से सम्बन्धित अनेक चित्र भी बनाये हैं, जिन्हें देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हालदार की अन्तर्भावना महाकवि की रसिक आत्मा के कितने निकट पहुँच सकी है।

चित्रगत प्रत्यक्षीकरण मोटे तौर पर दो प्रकार से हो सकता है—विषय को पहले रेखा-बद्ध रूप में उपकल्पित कर लिया जाए और रंग बाद में भरे जाएँ; या, चित्र को केवल रंगीन क्षेत्रों का जमाव मान लिया जाए और रेखाओं का प्रायः बहिष्कार ही कर दिया जाए। यूरोप के "प्रभाववादी" कलाकारों ने द्वितीय प्रकार का आश्रय लिया। किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि केवल यही प्रकार मान्य हो सकता है। फिर भी हमारे अनेक नये चित्रकार, जिनकी दृष्टि में अजन्ता का अनुकरण "पुरानपन्थी" चीज है और वान गॉग जैसे चित्रकारों का अनुकरण बहुत बड़ी प्रगति है, चित्र को रेखाओं में उपकल्पित करने की परम्परागत शैली को सर्वथा हेय समझते हैं। अभी हाल में एक बच्चों की कला-प्रदर्शिनी के सम्बन्ध में विवेचना करते हुए किसी यूरोपियन समालोचक ने (नई दिल्ली के एक ब्रिटिश-संचालित दैनिक पत्र में) यह व्यवस्था दी थी कि वे बच्चे बहुत अच्छे चित्रकार निकलेंगे जिन्होंने केवल रंगों के द्वारा चित्र बनाये हैं, और वे बच्चे कभी चित्रकार नहीं बन सकेंगे जिनके चित्र रेखाओं पर आश्रित हैं। हालदार के आलोचनात्मक लेखों में उपर्युक्त 'व्यवस्था' का खण्डन किया गया है। उन्होंने बताया है कि सभी युगों में संसार की अनेक कला-परम्पराओं में 'रेखा' को ही आधार माना गया है। आदिम जातियों के बनाये हुए चित्रों में 'गति' की जो स्पष्ट और अद्भुत अभिव्यक्ति दीख पड़ती है वह 'रेखा' का ही प्रभाव है। इसी प्रकार प्राचीन मिश्र के भित्ति-चित्रों में तथा ग्रीस के रंगीन पात्रों पर अंकित आकृतियों की जीवन-शक्ति, अजन्ता के चित्रों की अनुपम कान्ति, मुगलकालीन लघु-चित्रों का आभिजात्य और राजपूत चित्रों की गीतिमयता—सभी 'रेखा' की विशेषताओं पर आश्रित है। हालदार ने आगे चल कर बताया है कि आधुनिक कलाकार 'रेखा' की उपेक्षा करने के बदले उसे फिर से अपनाने लगे हैं। पाउल क्ली, पिकासो, जुआन ग्रिस और आँद्रे मेसन की कला में 'रेखा' की नयी तथा असम्भावित विशेषताओं का अनुसन्धान किया

मध्यकालीन भारत में ग्रीष्म ऋतु का विश्राम
असितकुमार हालदार

वेद का अध्ययन
असितकुमार हालदार

प्रकाश और लय
असितकुमार हालदार

विकासोन्मुख यौवन
असितकुमार हालदार

लोहे का व्यापारी
असितकुमार हालदार

वधू
असितकुमार हालदार

जा रहा है। स्वयं हालदार ने रेखा का जो कवित्वमय उपयोग किया है वह उनके "प्रकाश और लय" चित्र में भली-भाँति देखा जा सकता है।

हालदार के चित्रों के विषय पौराणिक गाथा, इतिहास, साहित्य और जीवन से लिये गये हैं। "राम और गुह" जैसे चित्रों में हम देख सकते हैं कि हालदार प्रवाहमय चित्र-वर्णन के द्वारा कहानी कहने में कितने कुशल हैं। "कुणाल (अशोक का अंधा पुत्र)" और "निर्माता अकबर" जैसे चित्रों की प्रेरणा हालदार को इतिहास से मिली है। और यही प्रेरणा "वेद का अध्ययन" और "मध्यकालीन भरात में ग्रीष्म-ऋतु का विश्राम" जैसे चित्रों में दृष्टिगत होती है, जिनमें प्राचीन काल के जीवन को फिर से प्रत्यक्ष करने का प्रयास किया गया है। सृजन के क्षेत्र में साहित्य और कला का निकट-सम्बन्ध है। हालदार ने साहित्य से जो प्रेरणा पायी है वह उनके "मेघदूत" वाले चित्रों के अतिरिक्त उन चित्रों में भी स्पष्ट है, जो उन्होंने उमर खैयाम के रस-पूर्ण पद्यों को सचित्र करने के लिए बनाये हैं। इन चित्राङ्कनों में रंगों की सुकुमारता विशेष रूप से दर्शनीय है। हालदार अपने आसपास के जीवन से भी आकर्षित हुए हैं— किसान, गाँव की लड़कियाँ, मछुए, त्योहार आदि विषयों को उन्होंने अपनाया है। इन चित्रों में हमें जो आदर्श-करण, सुकुमार दृष्टि-केन्द्रण, आकृतियों की न्यूनित शक्ति, और रंगों की रुचिपूर्णता तथा कुछ उदासी-पूर्ण कल्पना दिखाई देती है उसका कारण है हालदार की दीर्घकालीन स्मृति के सहारे काम करने की प्रवृत्ति। "वधू" और "विकासोन्मुख यौवन" में ये विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। किन्तु हालदार की आदर्शोन्मुखी प्रवृत्ति उन्हें वास्तविक जीवन से दूर नहीं कर पायी है। इसका प्रमाण उनका "लोहे का व्यापारी" चित्र है।

हम इस लेख को हालदार के एक उद्धरण से समाप्त करेंगे, जिससे स्पष्ट हो जाएगा कि वे इतिहासिक औचित्य का कितना ध्यान रखते हैं और मतान्धता को कितना हेय मानते हैं। (नये कलाकारों में इन दोनों का दुःखप्रद अभाव पाया जाता है)। लगभग पचीस वर्ष पहले, जब "पुनरुज्जीवन" अपने उत्कर्ष-युग में था और उसके विषय में मतान्धता के लिए अवसर था, हालदार ने लिखा था, "यह सम्भव नहीं है कि किसी एक प्रदेश अथवा किसी एक युग की कला को ही चरम मान-दण्ड या कला-सम्बन्धी प्रयत्नों की अन्तिम पूर्णता मान कर उससे गठबन्धन कर लिया जाए, क्योंकि कला कभी चरम बिन्दु पर नहीं पहुँच सकती। यह ईश्वर की कृपा है कि दैवी तथा मानुषी दोनों प्रकार के सृजन आप ही आप, शाश्वत-नवीन प्रकारों से सदा विकसित होते रहते हैं। उनके लिए कोई अन्तिम लक्ष्य स्थिर कर देने का परिणाम यह होगा कि वे जीवन-शून्य हो जाएँगे।"

रेडियो रूपक

सूरदास

[प्रेमचन्द के उपन्यास 'रंगभूमि' का नायक]

—विष्णु प्रभाकर

पात्र-परिचय

सूत्रधार—कथा का परिचय देने वाला
सूरदास—एक अन्धा भिखारी
जानसेवक—चमड़े के गोदाम का मालिक
सोफी—जानसेवक की लड़की
नायकराम—सूरदास के गाँव का पण्डा
राजा महेन्द्र कुमार—जमींदार और कमेटी के चेयरमैन
मि० क्लार्क—जिला-हाकिम और सोफी विवाह से के इच्छुक
ताहिर अली—जानसेवक का मुंशी
माहिर अली—थानेदार
हवलदार—
इन्द्रदत्त—स्वयंसेवकों के नेता
कप्तान पुलिस—
कु० विजयसिंह—एक बड़े जमींदार के पुत्र, इन्द्रदत्त के मित्र और सोफी के प्रेमी।
डा० गांगुली—एक डाक्टर

[बैरिस्टर, प्रोफेसर, सिपाही तथा जनता के व्यक्ति]

सूत्रधार—बनारस के पास पांडेपुर की बस्ती में एक गरीब और अन्धा चमार रहता था। सूरदास उसका बना-बनाया नाम था। दुबला-पतला और सरल व्यक्ति था। गाने-बजाने में विशेष रुचि, दिल में दया और ममता, भगवान् से लौ उसके स्वाभाविक गुण थे। बाहरी आँखें बन्द थीं, पर अन्दर की खुली हुई थीं। कुटुम्ब के नाम पर केवल एक भतीजा, मीठू, बचा था। वह भीख माँग कर गुजारा करता था, बाप-दादा की जमीन चराई के लिए छोड़ रक्खी थी। किसी से चराई का एक पैसा नहीं लेता था। उसी जमीन को चमड़े के गोदाम के मालिक मि० जानसेवक लेना चाहते थे। उन्हें सिगरेट का कारखाना खोलना था। लेकिन सूरदास ने इनकार कर दिया। रुपयों का लालच उसको पथ-भ्रष्ट न कर सका। जानसेवक वहाँ के जमींदार के पास गये। उन्होंने भी दखल देने से इनकार कर दिया तो कमेटी के चेयरमैन राजा महेन्द्रकुमार के पास पहुँचे। उन्होंने जमीन देख कर कुछ करने का वचन दिया।

(गाँव से बाहर सड़क पर हवा साँय-साँय कर रही है और आग तापते हुए सूरदास का स्वगत स्वर उठता है)

सूरदास—(स्वगत) क्या इसी दिन के लिए मैंने जमीन का इतना जतन किया था? मेरे दिन सदा यों हीं थोड़े रहेंगे। कभी तो लक्ष्मी प्रसन्न होगी। अन्धे की आँखें न खुलें, पर भाग तो खुल सकता है। यही अभिलाषा थी कि एक कुआँ और एक छोटा मन्दिर बनवा देता। मरने के पीछे अपनी कुछ निशानी रहती। पिसनहारी ने कुआँ खुदवाया, आज तक उसका नाम चला आता है। झक्कड़ साईं ने बावली बनवायी थी, आज तक झक्कड़ की बावली

मशहूर है। मगर जमीन निकल गयी तो····तो नाम डूब जाएगा। कुछ रुपये मिल भी गये तो किस काम के·········?

(नायकराम का प्रवेश)

नायकराम–सूरदास, बैठे तापते ही रहोगे? साँझ हो गयी। हवा खाने वाले इस ठंड में न निकलेंगे। खाने भर को मिल गया कि नहीं?

सूर०–कहाँ महाराज! आज तो एक भी भागवान से भेंट नहीं हुई।

नायक०–जो भाग्य में था, मिल गया। चलो, घर चलें। बहुत ठंड लगती हो तो मेरा यह अँगोछा कंधे पर डाल लो। मैं इधर आया था कि कहीं साहब मिल गये तो दो-दो बातें कर लूँ। देखूँ तो, मेरे रहते वह तुम्हारी जमीन कैसे लेता है! लहू की नदी बहा दूँगा!

(फिटन आने का स्वर। सूरदास का पीछे भगना)

सूर०–कौन आया?.........दाता, भगवान् तुम्हारा कल्याण करे, अन्धे की खबर लीजो! दाता, भगवान् तुम्हारा कल्याण करे, अंधे की खबर लीजो.........

नायक०–अरे, यह तो राजा महेन्द्रकुमार की फिटन है! (फिटन रुकती है) सरकार का इधर कैसे आना हुआ? आज तो बड़ी ठंड है।

राजा–ऐसे ही चला आया था। क्यों पण्डा जी, यही वह सूरदास है, जिसकी जमीन आगे पड़ती है। आओ, तुम दोनों आदमी मेरे साथ बैठ जाओ। मैं जरा उस जमीन को देखना चाहता हूँ।

नायक०–सरकार चलें, हम दोनों पीछे-पीछे आते हैं।

राजा–अजी आ कर बैठ भी जाओ!

सूर०–पण्डा जी, तुम बैठ जाओ। मैं दौड़ता हुआ चलूँगा। गाड़ी के साथ ही साथ पहुँचूँगा।

राजा–नहीं-नहीं, तुम्हारे बैठने में कोई हर्ज नहीं। तुम इस समय भिखारी सूरदास नहीं, सौदागर सूरदास हो।

नायक०–बैठो सूर, बैठो। हमारे सरकार साक्षात् देवता हैं।

सूर०–पण्डा जी!

राजा–पण्डा जी, तुम इनका हाथ पकड़ कर बैठा दो, यों न बैठेंगे।

नायकराम–अजी गोद में ले कर बैठता हूँ......ए, यह लो!.........(बैठता है) चलिए सरकार.........।

(फिटन चलती है–कुछ देर बाद)

नायकराम–हम आ गये सरकार! यह रही जमीन।

(फिटन रुकती है)

राजा–जमीन तो बड़े मौके की है।

सूरदास–सरकार, बाप-दादों की निशानी है।

राजा–असामियों के साथ बन्दोबस्त है?

नायकराम–नहीं सरकार, ऐसे ही परती पड़ी रहती है। सारे मुहल्ले की गउएँ यहीं चरने आती हैं। उठा दी जाए तो दो सौ से कम नफ़ा न हो। पर यह कहता है, जब भगवान् मुझे यों ही खाने भर को दे देते हैं तो इसे क्यों उठाऊँ?

राजा–(अचरज से) अच्छा तो सूरदास दान

लेता ही नहीं, देता भी है। ऐसे प्राणियों के दर्शनों ही से पुण्य होता है।

नायकराम—हुजूर! उस जन्म का कोई बड़ा भारी महात्मा है।

राजा—उस जन्म का नहीं, इस जन्म का महात्मा है।

नायकराम—धर्मावतार, इतने पर भी इन्हें चैन नहीं। यह धर्मशाला, मन्दिर और कुआँ बनवाने का विचार कर रहे हैं।

राजा—वाह, तब तो बात ही बन गयी! क्यों सूरदास, तुम इस जमीन में से नौ बीघे मि० जानसेवक को दे दो; उनसे जो रुपये मिले उन्हें धर्म-कार्य में लगा दो। बोलो, कितने रुपये दिला दूँ?

नायकराम—सूर, हमारे मालिक को जानते हो न? म्युनिसिपाल्टी के सबसे बड़े हाकिम हैं। आपके हुक्म के बिना कोई अपने द्वार पर खूँटी भी नहीं गाड़ सकता। चाहें तो सब इक्के वालों को पकड़वा दें। सारे शहर का पानी बन्द करा दें।

सूरदास—जब आपका इतना बड़ा अख्तियार है तो साहब को कोई दूसरी जमीन क्यों नहीं दिलवा देते?

राजा—ऐसे अच्छे मौके पर शहर में दूसरी जमीन मिलनी मुश्किल है। लेकिन तुम्हें क्या आपत्ति है? तुम्हारे लिए तो यह बहुत अच्छा अवसर है। रुपये लेकर धर्म-कार्य में लगा दो।

सूर०—महाराज, मैं खुशी से जमीन न बेचूँगा। आँखें नहीं हैं तो क्या अक्ल भी नहीं है? जब मेरी चीज़ है ही नहीं तो मैं उसका बेचने वाला कौन होता हूँ?

राजा—यह जमीन तो तुम्हारी ही है!

सूर०—नहीं सरकार, मेरी नहीं, मेरे बाप-दादों की है। मेरी चीज़ वही है, जो मैंने अपने बाहु-बल से पैदा की है। यह जमीन मुझे धरोहर में मिली है। मैं इसका मालिक नहीं हूँ।

राजा—ठीक कहते हो, सूरदास, तुम ठीक कहते हो। लेकिन जो जायदाद धर्म-कार्य के लिए बेची जाए, उसे मैं बेचना नहीं कहता।

सूर०—धर्मावतार, मेरा तो इस जमीन के साथ इतना ही नाता है कि जब तक जीऊँ, इसकी रक्षा करूँ, और मरूँ तो इसे ज्यों का त्यों छोड़ जाऊँ—और फिर सरकार, गरीब की घरवाली सबकी भावज होती है। साहब धर्मशाला में तम्बाकू का गोदाम बनवाएँगे, मंदिर में उनके मजदूर सोएँगे, कुएं पर उनके मजदूरों का अड्डा होगा। बहू-बेटियाँ पानी भरने न जा सकेंगी। साहब न करेंगे, साहब के लड़के करेंगे। मेरे बाप-दादों का नाम डूब जाएगा। सरकार, इस दल-दल में न फँसाइए!

नायक०—धर्मावतार, सूरदास की बात मेरे मन को भी लगती है। थोड़े दिनों में मंदिर, धर्मशाला, कुआँ सब साहब का हो जाएगा। इसमें संदेह नहीं।

राजा—अच्छा यह भी माना। लेकिन जरा यह भी तो सोचो कि इस कारखाने से लोगों का फायदा होगा। हजारों मज़दूर, स्त्री और बाबू आ कर आबाद हो जाएँगे। बनियों की नयी-नयी दुकानें खुल जाएँगी। आस-पास के किसानों को अपनी शाक-भाजी ले कर शहर न जाना पड़ेगा। यहीं पूरे दाम मिल जाएँगे।

सूर०—सरकार, बहुत ठीक कहते हैं। लेकिन जहाँ यह रौनक बढ़ेगी, वहाँ ताड़ी-शराब का प्रचार भी बढ़ जाएगा। कसबियाँ भी तो आकर बस जाएँगी। परदेशी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे। देहात के किसान अपना काम छोड़ कर मजूरी के लालच में दौड़ेंगे। वहाँ बुरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे आचरण अपने गाँव में फैलाएँगे। देहात की लड़कियाँ, बहुएँ, मजूरी करने आएँगी और वहाँ पैसे के लोभ में अपना धर्म बिगाड़ेंगी। यही रौनक शहरों में है, वही रौनक यहाँ हो जाएगी। भगवान् न करे, यहाँ वह रौनक हो। सरकार, मुझे इस कुकर्म और अधर्म से बचाइए। यह सारा पाप मेरे सिर पड़ेगा।

नायक०—दीनबन्धु, सूरदास बहुत पक्की बात कहता है। कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद, सभी जगह घूमा हूँ। हर जगह यही हाल देखा है।

राजा—क्या यह बुरा पेशा तीर्थ-स्थानों में नहीं ?

सूर०—सरकार, उनका सुधार भी तो बड़े आदमियों ही के हाथ में है। जहाँ बुरी बातें पहले से ही हैं, वहाँ से हटाने के बदले उन्हें और फैलाना तो ठीक नहीं है।

राजा—ठीक कहते हो, सूरदास। बहुत ठीक कहते हो। तुम्हारी बातों से चित्त प्रसन्न हो गया। तुम निश्चिन्त रहो। मैं साहब से कह दूँगा, सूरदास अपनी जमीन नहीं देगा।

[ये स्वर मिटते हैं और सूत्रधार का स्वर उठता है]

सूर०—और राजा साहब ने यही किया। परन्तु जानसेवक चुप बैठने वाले नहीं थे। उनकी एक लड़की थी। सोफी उसका नाम था। वह जमींदार के लड़के कुँवर विनयसिंह से प्रेम करती थी, परन्तु जानसेवक चाहते थे कि वह जिला-हाकिम क्लार्क से विवाह करे। मि० क्लार्क भी सोफी को चाहते थे। एक ओर तो जानसेवक ने मि० क्लार्क को शादी का विश्वास दिलाया, और दूसरी ओर सूरदास के साथी गाँव वालों को, जिनके लिए सूरदास सब कुछ कर रहा था, कूटनीति से अपनी ओर कर लिया। यहाँ तक कि अन्त में उन्होंने राजा साहब को भी सूरदास के खिलाफ़ करके जमीन ले ली। सूरदास सब ओर से निराश और दुखी हो कर जनता के दरबार में दुहाई देने लगा। एक दिन जब जान सेवक, क्लार्क, सोफी आदि सब लोग गिरजे में थे तो सूरदास वहाँ पहुँचा।

[सूत्रधार का स्वर मिटता है और सूरदास गाते हुए प्रवेश करता है।]

भई, क्यों रण से मुँह मोड़े ?...........
भई, क्यों रण से मुँह मोड़े ?..............

सूर०—दुहाई है! दुहाई है! सेवक साहब और राजा साहब ने मेरी जमीन जबरदस्ती छीन ली! मुझ दुखिया की फरियाद कोई नहीं सुनता! दुहाई है—

दुर्बल को न सताइए, जाकी मोटी हाय।
मुई खाल की साँस सों, सार भसम हो जाय॥

[सूरदास की पुकार सुन कर भीड़ में से कुछ व्यक्ति पूछने लगते हैं]

बैरिस्टर—क्यों अन्धे, कैसी जमीन थी ? राजा साहब ने कैसे ले ली ?

सूर०—हजूर, मेरे बाप-दादों की जमीन थी। सेवक साहब वहाँ चुरुट बनाने का कारखाना खोल रहे हैं। उनके कहने पर राजा साहब ने वह जमीन मुझसे छीन ली है। दुहाई है सरकार

की ! दुहाई है पंचों की ! गरीब की कोई नहीं सुनता !

बैरि०–मिस्टर क्लार्क, मेरे विचार में व्यक्तिगत लाभ के लिए किसी की जमीन पर कब्जा करना मुनासिब नहीं।

प्रोफेसर–बैरिस्टर साहब, क्या आपको मालूम नहीं है कि सिगरेट का कारखाना खोलना परम परमार्थ है। सिगरेट पीने वाले आदमी को स्वर्ग पहुँचने में ज़रा भी दिक्कत नहीं होती !

बैरि०–अगर सिगरेट के कारखाने के लिए सरकार जमीन दिला सकती है, तो कोई कारण नहीं है कि चकलों के लिए न मिले। सिगरेट के कारखाने के लिए जमीन पर कब्जा करना कानून का दुरुपयोग करना है।

प्रो०–ये सभी नियम अमीरों के लाभ के लिए बनाये गये हैं, और उन्हीं को इनके व्यवहार करने का अधिकार दिया गया है। कुत्ते को खाल की रखवाली सौंप दी गयी है। क्यों अन्धे, तेरी जमीन कुल कितनी थी ?

सूर०–हजूर, दस बीघे से कुछ ज्यादा ही होगी। सरकार बाप-दादों की यही निशानी है। पहले राजा साहब मुझसे माँगते थे, जब मैंने न दी तो जबरदस्ती ले ली। हजूर, अन्धा–अपाहज हूँ ! आपके सिवा किससे फरियाद करूँ ?

कई स्वर–बुरा हुआ, बहुत बुरा हुआ ! इसका अवश्य कुछ होना चाहिए। साहब ने धर्म-अधर्म का विचार नहीं किया।

सोफी–(धीरे से) मिस्टर क्लार्क, चलिए, मुझे आप से इस सम्बन्ध में बातें करनी है।

क्लार्क–बातें करनी हैं ! क्यों ? तुम्हें दया आती है ? नारी हो न !

सोफी–(धीरे से) आप चलें तो।

क्लार्क–चलो।

(कार स्टार्ट होती है। दोनों बातें करते जाते हैं)

सोफी–हाँ, मि० क्लार्क। पापा ने धर्म-अधर्म का विचार नहीं किया। कोई माने या न माने, मैं तो यही कहूँगी कि अन्धे के साथ अन्याय हुआ।

क्लार्क–हाँ, अन्याय तो हुआ। मेरी तो बिलकुल इच्छा नहीं थी, पर मुझे तुम्हारा डर था। तुम नाराज हो जातीं।

सोफी–कदापि नहीं ! आपने शायद मुझे अब तक नहीं पहचाना।

क्लार्क–तुम्हारे पापा ज़रूर ही नाराज़ हो जाते।

सोफी०–मैं और पापा एक नहीं हैं। मेरे और उनके आचार-व्यवहार में बहुत अन्तर है। मुझे खेद है, मैं ही इस अन्याय की जड़ हूँ। राजा साहब ने मुझे प्रसन्न करने के लिए बोर्ड में यह प्रस्ताव रक्खा। आपने भी मुझी को प्रसन्न करने के लिए स्वीकृति प्रदान की। आप लोगों ने तो मेरी मिट्टी ही ख़राब कर दी !

क्लार्क–मेरे सिद्धान्तों से तुम परिचित हो। मैंने अपने ऊपर जब्र करके यह स्वीकार किया। मैं समझता था, तुम्हारे पापा का मामला है।

सोफी–आपने अपने ऊपर जब्र नहीं किया– मेरे ऊपर किया है। और अब आपको इसका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा।

क्लार्क–(शुष्क हँसी) मैं नहीं जानता था कि तुम इतनी न्याय-प्रिय हो !

सोफी–मेरी तारीफ़ करने से इस पाप का प्रायश्चित्त नहीं होगा।

क्लार्क–मैं अन्धे को किसी दूसरे गाँव में इतनी ही जमीन दिला दूँगा।

सोफ़ी–क्या उसकी जमीन उसे नहीं लौटायी जा सकती ?

क्लार्क–कठिन है।

सोफ़ी–असम्भव तो नहीं ?

क्लार्क–असम्भव से कुछ ही कम है।

सोफ़ी–तो समझ गयी, असम्भव नहीं है। आप कल ही उस प्रस्ताव को मंसूख कर दीजिए।

क्लार्क–प्रिये, तुम्हें मालूम नहीं उसका क्या परिणाम होगा ?

सोफ़ी–मुझे इसकी चिन्ता नहीं। आप लोगों ने मेरी इच्छा के विरुद्ध मेरे सिर पर एक महान् पातक का बोझ रख दिया है। मैं इसे सहन नहीं कर सकती। आपको अन्धे की ज़मीन वापस करनी पड़ेगी।

माहिर अली–(भागता और चिल्लाता हुआ आता है) कार रोको हजूर, कार रोको हजूर......!

सोफ़ी–(घबरा कर) क्यों, क्या बात है ? क्या कोई वारदात हो गयी ?

ताहिर०–हजूर ! जब से इस अन्धे ने शहर में आह-फरियाद शुरू की है, तब से शहर के शोहदे रोजाना मुझे धमकी देते हैं। कोई आग लगाने दौड़ता है, कोई लूटने; कोई कत्ल करना चाहता है। आज सुबह कई सौ आदमी लाठियाँ लिये आ गये। मजदूर भाग गये। कयामत का सामना था। पर वह तो उस वक्त अन्धा न जाने किधर से आ निकला।

सोफ़ी–कौन ? सूरदास !

ताहिर०–जी हजूर। आते ही बिजली की तरह कड़क कर बोला–तुम लोग ऊधम मचा कर मुझे क्यों कलंक लगा रहे हो ? आग लगाने से मेरे दिल की आग नहीं बुझेगी। लहू बहाने से मेरा चित्त शान्त नहीं होगा। भगवान् से विनती करो, जिन्होंने मुझ पर जुल्म किया है उनके दिल में दया-धर्म जागे।

सोफ़ी–फिर ?

ताहिर०–फिर हजूर, कुछ तो भाग गये, पर बहुत से डटे रहे। बोले–तुम देवता हो तो बने रहो, हम देवता नहीं हैं। हम तो जैसे के साथ तैसा करेंगे। उन्हें भी तो गरीबों पर जुल्म करने का मजा मिल जाए।

सोफ़ी–फिर उसने क्या किया ?

ताहिर०–फिर उसने वह किया जो कोई फरिश्ता ही कर सकता है। हजूर, उसने जमीन से एक बड़ा-सा पत्थर का टुकड़ा टटोल कर उठाया और माथे के आगे रख कर बोला–अगर तुम लोग मेरी विनती नहीं सुनोगे तो इसी वक्त इसी पत्थर से टकरा कर जान दे दूँगा। मुझे मर जाना मंजूर है, पर यह अन्धेर नहीं देख सकता। उसके मुँह से इतना निकलना था कि सन्नाटा छा गया। देखते-देखते सारा मजमा गायब हो गया। सूरदास भी उठा और लाठी टेकता हुआ जिधर से आया था उधर ही चला गया। हजूर, वह इन्सान नहीं, कोई फरिश्ता है।

क्लार्क–मुझे भी ऐसा ही लगता है। यह अन्धा जरूर कोई असाधारण पुरुष है।

सोफ़ी–तुम उससे दो-चार बातें करके देखो। उसके आध्यात्मिक और दार्शनिक विचार सुन कर चकित हो जाओगे। आप लोग ऐसे साधु-जनों

पर भी अन्याय करने से बाज नहीं आते, जो अपने शत्रुओं पर एक कंकड़ भी उठा कर नहीं फेंकते। प्रभुमसीह में भी यही गुण सबसे प्रधान था।

क्लार्क–प्रिये, मुझे लज्जित न करो। इसका प्रायश्चित्त निश्चय होगा।

सोफी–(हल्की हँसी) तुम कितने अच्छे हो!

[धीरे-धीरे ये स्वर भी मिटते हैं और सूत्रधार का स्वर उठता है।]

सूत्र०–इस प्रकार सोफी ने झूठा प्रेम दिखा कर एक बार तो वह हुक्म मन्सूख करा लिया। परन्तु जानसेवक भी मिट्टी के नहीं बने थे। वे राजा साहब के साथ ऊपर तक पहुँचे। उन्होंने धारा-सभा में तूफान खड़ा कर दिया, और न केवल हुक्म बहाल करा लिया बल्कि क्लार्क को भी वहाँ से बदलवा दिया। सूरदास को मुआवजे के कुल १०००) मिले। वह भी आन का पक्का था—उसने वह रुपया कुँवर विजयसिंह के साथी इन्द्रदत्त को सेवा-समिति के लिए दे दिया। जनता ने उसके लिए चन्दा किया था, वह भी उसने नहीं रक्खा। वह तो दूसरों के लिए जीने वालों में से था। मुहल्ले वाले फिर उसकी पूजा करने लगे। लेकिन उसका भतीजा मीठू उससे दूर हटता गया। झगड़ा यहीं नहीं समाप्त हुआ। कारखाना तो बन गया, परन्तु उसके मजदूरों के लिए मकान भी तो चाहिए। इस काम के लिए सरकार ने जानसेवक को पांडेपुर मुहल्ले को खरीदने की स्वीकृति दे दी।

[गाँव की एक भीड़ के सामने राजा महेन्द्र कुमार एलान करते हैं।]

राजा साहब–सरकार को एक खास सरकारी काम के लिए इस मुहल्ले की जरूरत है। उसने फैसला किया है कि तुम लोगों को उचित दाम दे कर यह जमीन ले ली जाए। लाट साहब का हुक्म आया है। आज से तीन महीने के अन्दर तुम्हें अपने-अपने मकान खाली कर देने पड़ेंगे।

एक स्वर–क्या! क्या हमें मकान खाली करने पड़ेंगे!

दूसरा–मकान खाली करने होंगे! हाय, इस पुतलीघर ने हमें बरबाद कर दिया!

तीसरा–सूरदास भी कहता था, यह साहब हम को उजाड़ कर रहेगा। आखिर यह अफवाह भी सच्ची निकली!

[शोर बढ़ता है]

राजा–सुनो! सुनो! जो आदमी इतने दिनों के अन्दर मकान खाली नहीं करेंगे, उनके मुआवजे के रुपये जब्त कर लिए जाएँगे, और उन्हें ज़बरदस्ती घर से निकाल दिया जाएगा। सरकार तुम्हें बेवजह तकलीफ नहीं दे रही है। उसको इस जमीन की सख्त जरूरत है।

एक स्वर–सरकार! यहाँ रहते हमारी पीढ़ियाँ गुजर गयीं। अब सरकार हम को निकाल देगी, तो कहाँ जाएँगे? कोई ठिकाना तो बताओ!

राजा–मुझे स्वयं बड़ा दुःख है। मैंने उज्र भी किया था, पर सरकार का इस जमीन बगैर काम नहीं चल सकता। मुझे तुम्हारे साथ सच्ची सहानुभूति है। पर मजबूर हूँ। सरकार का हुक्म हुआ है। तुम लोगों को घर छोड़ना ही पड़ेगा।

दू. स्वर–और न छोड़ा तो—?

राजा–तो सरकार छुड़ा लेगी।

तीसरा स्वर–तो छुड़ा ले। हम अपनी इच्छा से घर नहीं छोड़ेंगे।

एक साथ–नहीं-नहीं! हम घर नहीं छोड़ेंगे!

[कुछ देर शोर उठ कर पृष्ठ-भूमि में समाप्त होता है और एक क्षण के अवकाश के बाद फिर शोर उठता है]

भीड़ का स्वर–नहीं-नहीं, हम घर नहीं छोड़ेंगे! नहीं छोड़ेंगे!

माहिर अली–नहीं कैसे छोड़ोगे! तुम लोगों को घर छोड़ने ही पड़ेंगे!

एक स्वर–बड़े आये घर छुड़ाने वाले! तुम हो कौन?

माहिर–मैं कौन हूँ? मैं माहिर अली थानेदार हूँ! मैं आज मकान खाली कराके छोड़ूँगा! तीन महीने खत्म हो चुके हैं।

दूसरा स्वर–देखता हूँ, कैसे खाली कराओगे! कोई राहजनी है!

माहिर०–मैं कहता हूँ, सीधे से अपने बोरिये-बिस्तर बाँधो और चलते-फिरते नजर आओ। कहीं मुझे जोश आ गया तो तुम्हारी खैरियत नहीं!

पहला स्वर–क्या कहा, खैरियत नहीं? आओ तो, देखें, क्या करते हो!

माहिर०–क्या करता हूँ? तो देख! (पुकार कर) सिपाहियो, फेंक दो इनका असबाब, और मकान फौरन खाली करा लो! लातों के भूत बातों से नहीं माना करते।

हवलदार–अभी लो हजूर! ऐ, परे हटो! चलो, क्या देखते हो? नहीं खाली करोगे? कैसे नहीं करोगे? यह देखो! [सामान फेंकने और औरतों-बच्चों के रोने का स्वर] यह खाली हुआ!

भीड़–यह अन्याय है! यह जुल्म है! हाय-हाय! मुंडीकाटे कारखाना बनाने चले हैं! हाय-हाय! भगवान्! कहाँ जा कर सो गये!

माहिर०–मार-मार कर सब को भगा दो! लोग वहाँ क्यों खड़े हैं! भगा दो, जिस आदमी को खड़ा देखो। और वह उस अन्धे की झोंपड़ी गिरा दो। यह छटा हुआ बदमाश है! अभी गिरा दो!

पहला स्वर–कोई आये तो! देखें, कौन है माई का लाल!

दूसरा–कह दिया, इसकी झोंपड़ी अभी गिरा दो! झोंपड़ी गिराना हँसी-ठट्ठा नहीं! यह महात्मा की झोंपड़ी है!

तीसरा–लहू की नदियाँ बह जाएँगी! कोई बढ़े तो! भाइयो, देखते क्या हो? आगे बढ़ो, और झोंपड़ी को घेर लो!

[भीड़ का शोर बढ़ता है तभी इन्द्रदत्त आगे बढ़ता है]

इन्द्रदत्त–भाइयो! ठहरो सुनो! सोच लो कि तुम क्या चाहते हो! क्या इसी झोंपड़ी के लिए अपना और अपने भाइयों का रक्त बहाओगे? इन दामों यह झोंपड़ी महँगी पड़ेगी। अगर बचाना चाहते हो तो इन पुलिस वालों से विनय करो। प्रकट में ये शत्रु हैं, पर हृदय से तुम्हारे साथ हैं। [पत्थर आते हैं] अरे, अरे, क्या करते हो! पत्थर किसने फेंका? तुम लोग न्याय की रक्षा करने आये हो, बलवा करने नहीं! हाथ मत उठाओ! गोलियाँ चलने लगेंगी!

[भीड़ का शोर। कप्तान पुलिस का प्रवेश]

पुलिस कप्तान–यह कौन लेक्चर देता है? इसे हटा दो! (चिल्ला कर) हट जाओ! हट जाओ! नहीं हम गोली मार देगा! हट जाओ! नहीं हटा? फायर! [गोली चलती है। भगदड़ का शोर] क्या देखता है? फायर करो! करते रहो! अहा हा! लीडर लोग गिर गया! बागी गिर गया!

एक स्वर–हाय, इन्द्रदत्त गिर गये……!

दूसरा–इन्द्रदत्त गिर गये? (तेज हो कर) अब कहाँ भाग रहे हो? कायरो! बुजदिलो! ठहरो!

भीड़–हम नहीं भागेंगे! हम इन्द्रदत्त को छोड़ कर नहीं भागेंगे! हम खड़े हैं!

पु. कप्तान–नहीं भागोगे? (फायरिंग बन्द होता है) तुम क्यों रुका? फायर! फायर! क्या-क्या तुम लोग फायर नहीं करता?

हवलदार–नहीं हुजूर, अब हम गोली नहीं चला सकते। हम मनुष्य हैं, हत्यारे नहीं।

पु. कप्तान–तुम्हारा कोर्ट मार्शल होगा!

हवलदार–हो जाए।

पु. कप्तान–नमकहराम!

हवलदार–साहब गाली न दीजिए! हमने अपने भाइयों का गला काटने के लिए नहीं, उनकी रक्षा करने के लिए नौकरी की थी।

पु० कप्तान–हम अपनी फौज बुलाता है।

[भीड का शोर। कप्तान का जाना। विनय का प्रवेश।]

एक स्वर–अरे रे! कुमार विनयसिंह आ रहे हैं!

दूसरा–अरे, वे तो रो रहे हैं! इन्द्रदत्त उनके मित्र थे।

[सूरदास का भागते हुए आना।]

सूरदास–क्या, क्या, कुँवर साहब आ गये हैं? कहाँ है कुँवर साहब?

दूसरा०–इन्द्रदत्त के पास बैठे हैं।

सूरदास–धर्मावतार! हाथ भर जमीन के लिए क्यों इतना झंझट करते हो? मुझे क्या पता था कि राई का पर्वत बन जाएगा–भैया। मुझ से देखा नहीं जाता कि मेरी झोंपड़ी के लिए इतने घर उजड़ जाएँ। जब मर जाऊँ तो जो जी में आए करना।

विनय–अब यह तुम्हारी झोंपड़ी नहीं है, सूरदास, जातीय-मंदिर है। हम इस पर फावड़े चलते देख कर शान्त नहीं बैठे रह सकते।

सूरदास–पहले मेरी देह पर फावड़ा चल चुकेगा तब घर पर फावड़ा चलेगा।

विनय–और यदि आग लगा दें?

सूर–तब तो मेरी चिता बनी बनायी है! भैया, मैं तुम से और सब भाइयों से हाथ जोड़ कर कहता हूँ कि अगर मेरे कारण किसी माँ की गोद सूनी हुई, या कोई बहिन विधवा हुई, तो मैं इसी झोपड़ी में आग लगा कर जल मरूँगा!

नायकराम–सरकार, सूर बात का धनी है। जो कहेगा, जरूर करेगा।

विनय–तो फिर इसी तरह चलने दो। देखो, उधर से क्या गुल खिलता है। अब चलो, अपने वीरों की सद्गति करें। यह हमारे कौमी शहीद हैं। इनका जनाजा धूम से निकलना चाहिए।

नायकराम–ऐसी धूम से निकलेगा कि आकाश देखता रह जाएगा।

[ये स्वर मिटते हैं और सूत्रधार का स्वर उठता है]

सूत्रधार–जुलूस निकला और सचमुच ऐसा निकला कि आकाश देखता रह गया, लेकिन युद्ध बन्द नहीं हुआ। इसी बीच में सोफी बीमार पड़ गयी। दो महीने तक विनय उसकी रोग-शय्या से लगे बैठे रहे। वे युद्ध को भी भूल गये। लेकिन आखिर जब सरकार ने सब कुछ समाप्त करने की ठान ली तो वे दोनों जागे। सरकार ने मि० क्लार्क को वहीं वापिस भेजा। वह जनता को कुचलने चला और सोफी जनता की ओर से लड़ने। लज्जित और दुखी विनय भी पीछे-पीछे दौड़ा।

[भीड़ का कोलाहल। दारोगा चिल्लाता है, भीड़ चिल्लाती है।]

भीड़–नहीं जाएँगे, हम नहीं जाएँगे! नहीं नहीं! हम नहीं जाएँगे!

सूरदास–(एक साथी से) भैया! लोग नहीं मान रहे हैं। तुम मुझे जरा कंधे पर बैठा लो। एक बार और लोगों को समझा देखूँ कि कहीं गोली चल गयी तो आज उस दिन से भी अधिक खून-खच्चर हो जाएगा।

एक स्वर–कोई नहीं सुनेगा, सूर, कोई नहीं सुनेगा। पर फिर कोशिश कर देखो—आओ।

सूर०–(पुकार कर) भाइयो-भाइयो! आप लोग अपने-अपने घर जाओ! हाकिमों को चिढ़ाने से क्या फायदा? मेरी मौत आएगी तो आप लोग खड़े रहेंगे, और मैं मर जाऊँगा। मौत नहीं आएगी तो मैं तोपों के मुँह से बच कर निकल जाऊँगा। आप लोग वास्तव में मेरी सहायता करने नहीं आये, मुझ से दुश्मनी करने आये हैं।

क्लार्क–यह कौन है? ओ, सूरदास है! नेता बना हुआ लोगों को बरगला रहा है! अभी बताता हूँ—!

सूरदास–(पूर्ववत् बोल रहा है) हाकिमों के मन में, फौज के मन में, पुलिस के मन में दया और धर्म का ख्याल आता, उसे आप लोगों ने जमा हो कर क्रोध बना दिया। मैं हाकिमों को दिखा देता कि दीन, अंधा आदमी भी एक फौज को कैसे पीछे हटा देता है। तोप का मुँह कैसे बन्द कर देता है। तलवार की धार कैसे मोड़ देता है। मैं धर्म के बल से लड़ना चाहता था।

[पिस्तौल का स्वर। सूरदास का गिरना।]
ओह...ओ...आह!

एक स्वर–गोली चल गयी! गोली चल गयी!

दूसरा–मि. क्लार्क ने सूरदास को गोली मार दी!

तीसरा–सूरदास! सूरदास गिर गये! सूरदास!

एक–अरे कोई चलो! अभी साँस है–अस्पताल ले चलो!

सोफी–[पागलों की तरह भागती आती है] क्या कहा? सूरदास को गोली मार दी? विनय, तुमने सुना? क्लार्क ने सूरदास को गोली मार दी! मैं जाती हूँ! मैं वहाँ जाती हूँ!

विनय–[भागते भागते] सोफी ईश्वर के लिए वहाँ न जाओ! मुझ पर दया करो! देखो, फौजी बन्दूकें सँभाल रहे हैं। सोचो, कोई नहीं सुनता। भीड़ बढ़ रही है। गोली चलने वाली है। अनर्थ हो जाएगा। (भीड़ से) मित्रो, यह क्रोध का अवसर नहीं है, प्रतीकार का समय नहीं है! सत्य की विजय पर आनन्द और उत्सव मनाने का अवसर है।

एक स्वर–अरे, यह तो कुँवर विनयसिंह का स्वर

है! ये आज कहाँ से आ गये? दो महीने से मुँह छिपाये बैठे थे।

दूसरा–देखते नहीं, मिस सोफिया भी साथ आयी है!

तीसरा–तब तो वास्तव में आनन्द मनाने का अवसर है! उत्सव मनाइए! विवाह मुबारक!

एक स्वर–जब मैदान साफ हो गया तो आप मुर्दों की लाश पर आँसू बहाने के लिए पधारे हैं!

दूसरा–सरकार से कितना पुरस्कार मिलने वाला है?

तीसरा–राजभवन में जा कर शयन कीजिए, देर हो रही है! हम अभागों को मरने दीजिए!

विनय–भाइयो, मेरी निन्दा का समय फिर मिल जाएगा। मैं विशेष कारणों से इधर न आ सका था। पर मेरी सहानुभूति आपके साथ थी। मैं एक क्षण के लिए भी आपकी तरफ से गाफिल नहीं था।

एक स्वर–यह कारण सुनने का अवसर नहीं है। भाइयो, आज हमें दिखाना है कि हम न्याय के लिए कितनी वीरता से प्राण दे सकते हैं। चलो, आगे बढ़ो!

दूसरा–भाइयो, आगे बढ़ो और लाशों का ढेर लगा दो!

तीसरा–और इनसे कह दो, जा कर चुल्लू भर पानी में डूब मरें! हमें इनके उपदेशों की जरूरत नहीं है! उँगली में लहू लगा कर शहीद बनने चले हैं रईसज़ादे!

विनय–(स्वगत) रईसजादे! क्या रईसजादे होने का कलंक कभी नहीं मिटेगा! क्या मेरे त्याग और तपस्या का यही पुरस्कार है? क्या ये लोग नहीं जानते कि इनकी रक्षा करने आया हूँ? सिपाही सामने खड़े हैं। मैं यहाँ से हटा तो एक क्षण में पैशाचिक नर-हत्या होने लगेगी। पर······पर मैं उत्तेजित क्यों हो रहा हूँ। उन्होंने मुझे ताने दिये, तो क्या हुआ? मुझे धैर्य से काम लेना चाहिए। नहीं-नहीं, वे ठीक कहते हैं। मैं अपराधी हूँ। मैं सोफिया के कारण कायर हो गया था। मैं अपराधी हूँ, मैं कायर हूँ! मैं कायर नहीं रहूँगा। (पुकार कर) क्या आप देखना चाहते हैं कि रईसों के बेटे क्यों कर प्राण देते हैं? तो देखिए!

(पिस्तौल का स्वर। विनय का गिरना)

एक स्वर–अरे, अरे, कुँवर साहब ने पिस्तौल मार ली!

दूसरा–कुँवर साहब ने आत्म-हत्या कर ली! कुँवर ने—! यह क्या हुआ!

तीसरा–क्या कुँवर ने आत्म-हत्या कर ली? हाय-हाय! हमारी जबान क्यों न जल गयी! हमने उसे मर जाने दिया!

नायक०–[भागता हुआ] मिस साहबा!...मिस साहबा!...

[रुदन उठता है, उसी में से नायकराम का रुदन-भरा स्वर उभरता है]

सोफी–(घबराहट से) क्या है? क्या है? पंडा जी, तुम ऐसे क्यों हो रहे हो?

नायक०–विनय-विनय...!

सोफी–विनय को क्या हुआ? बोलो-बोलो! पंडा जी! क्यों विनय......?

नायक०–विनय ने आत्म-हत्या कर ली!

सोफी–[एकदम] क्या...क्या किया? [भागती हुई रोती है] विनय-विनय यह तुमने क्या किया!

तुम कहाँ चले गये ? हाय, मैं तुम्हारी हत्यारिन बन गयी ! विनय–विनय !

[रुदन फूटता है और समाप्त होता है। धीरे-धीरे घायल सूरदास का स्वर उठता है]

सूर०–[घायल वाणी] कुँवर विनयसिंह भी गये ? वीर का यही धर्म है। जो गरीबों के लिए जान लड़ा दे, वही सच्चा वीर है। भगवान् की मरजी–(पुकार कर) मिठुआ-मिठुआ-आया या नहीं ?

मिट्ठू–दादा, मैं यह रहा !

सूर०–आ गये ? तुमसे भी भेंट हो गयी। मैं न बुलाता तो तुम कभी न आते। तुम मुझसे नाराज हो। पर अब तो मैं जा रहा हूँ। नाराजी दूर कर दो और मैं मर जाऊँ तो मेरे क्रिया-कर्म, पिण्ड दान करना, भोज देना, और हो सके तो गया कर आना। बोलो, करोगे ?

मिट्ठू–दादा, मेरी भी नंगाझोली ले लो, जो मेरे पास धेला भी हो।

सूर०–तो क्या–क्या तुम क्रिया-कर्म न करोगे ? तुम ने यह आसरा भी तोड़ दिया।

मिट्ठू–दादा ! मुंह न खुलवाओ। मुझे चौपट किये जाते हो। दस बीघे जमीन थी, उसका मावजा कहाँ गया ? हाकिमों से बैर न ठानते, तो घर के १००) मिलते। दुनिया भर के लिए अच्छे होगे, पर मेरी गर्दन पर तो तुमने छुरी फेर दी। और कहते हो, गया कर आना ! अब तक मैं चुप था। देखता हूँ, मेरी जमीन का मावजा कैसे नहीं मिलता ! साहब ने सीधे दिया तो दिया, नहीं तो मेरे मन में जो आएगा, करूँगा।

सूर०–बेटा, मेरी भूल थी, जो क्रिया-कर्म को कहा। तुम कुछ मत करना, पर साहब से मावजा न माँगना।

मिट्ठू–मैं मावजे का दावा जरूर करूँगा। मैं चुप बैठने वाला नहीं हूँ। मेरी जायदाद उन्हें हजम नहीं होगी।

सूर०–मिट्ठू, क्यों मेरा दिल दुखाते हो ? इस घर के लिए प्राण तो दे दिये ! जमीन उन्होंने जावते से ली है, तुम्हारा दावा न चलेगा।

मिट्ठू–तो आग लगा दूँगा। (धीरे से) बम बनाता हूँ, एक गोला रख दूँगा।

सूर०–मिठुआ–मिठुआ, तू क्या कहता है, बेटा, ऐसे न सोच। तू मान जा, नहीं तो…… …नहीं तो।

मिट्ठू–नहीं तो………!

सूर०–नहीं तो मैं साहब से कह दूँगा !

मिट्ठू–साहब से कह दोगे ! तुम्हें गौ-हत्या का पाप लगे जो साहब से कहो। जीते-जी मेरा बुरा चेता। मरने के बाद भी काँटे बोना चाहते हो ? तुम्हारा मुँह देखना भी पाप है। [जाता है]

सूर०–मिठुआ–मिठुआ ! गया ? मैं—साहब से अवश्य कहूँगा ! अवश्य कहूँगा !!

[सोफी और जान सेवक का प्रवेश]

सोफी–क्या है, सूरदास ? क्या बात है ? मिट्ठू तो गया। देखो, पापा आये हैं ?

सूर०–कौन, साहब ? साहब सलाम !

जानसेवक–सलाम, सूरदास। मेरे हाथों तुम्हारा बड़ा अहित हुआ। माफ़ी माँगने आया हूँ।

सूर०–मेरा तो तो आपने कोई अहित नहीं किया। आप और हम आमने-सामने पालियों में खेले। आपने भरसक जोर लगाया, मैंने भरसक जोर

बगाया। जिसको जीतना था, वह जीता। जिसको हारना था, वह हारा। खिलाड़ियों में बैर नहीं होता।

जानसेवक–सूरदास, तुम सचमुच खिलाड़ी हो!

सूर०–साहब, आपसे एक बात कहता हूँ।

जानसेवक–शौक से कहो, सूरदास।

सूर०–साहब, मेरा भतीजा मिट्ठू आपके पीछे है। उससे बच कर रहना।

जानसेवक–क्या?

सूर०–हाँ साहब, वह अवसर चूकने वाला नहीं है। तब आप उस पर गुस्सा करेंगे, उसे दण्ड देंगे। मैं दोनों बातें नहीं चाहता।

जानसेवक–सूरदास, तुमने मुझे सचेत कर दिया। मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। मैं होता तो कभी ऐसा काम न करता। (धीरे से) सूरदास कितना सत्य-प्रिय है! संसार कदाचित् इसके रहने की जगह नहीं है।

सूर०–साहब! (स्वर टूट जाता है)

सोफी– ओह, यह तो बेहोश हो गये! सूरदास! सूर– ओह, डाक्टर डाक्टर! (डाक्टर का प्रवेश) डाक्टर, आप आ गये? देखिये तो, क्या अभी कुछ हो सकता है?

डा. गाँगुली–बहुत कुछ हो सकता है! सूरदास अभी नहीं मरेगा। बहुत दिनों तक नहीं मरेगा। हम सब मर जाएँगे, पर सूरदास कभी नहीं मरेगा! उसने काल को जीत लिया है। यह मृत्यु नहीं है, सोफी। इसकी जीवन-ज्योति का विकास है। हाँ सूरदास, दवा ले लो। हाँ आँखें खोलो-खोलो! (हँस कर) खोल दीं! देखो सोफी! हमने यमराज को परास्त कर दिया!

सोफी–(भावावेश में) सूरदास! सूरदास!!

सूरदास–(संज्ञा-हीन सा) बस, बस! अब मुझे क्या मारते हो! तुम जीते, मैं हारा! यह बाजी तुम्हारे हाथ रही। मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मँजे हुए खिलाड़ी हो। खिलाड़ियों को मिला कर खेलते हो– हमारा दम उखड़ जाता है। हम खिलाड़ियों को मिला कर नहीं खेलते। तुम निपुण हो, हम अनाड़ी हैं। तालियाँ क्यों बजाते हो—हम हारे तो क्या? मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धाँधली तो नहीं की? फिर खेलेंगे– जरा दम लेने दो, हार–हार कर, तुम्हीं से खेलना सीखेंगे, और एक न एक दिन जीत कर रहेंगे!

डा. गाँगुली–बड़ी विशाल आत्मा है।

सोफी–सूरदास, विनय के माता-पिता आये हैं। कुछ कहना चाहते हो?

सूर०–कुँवर साहब और रानी जी? कहाँ है? उनके चरणों की धूल मेरे माथे से लगा दो। तर जाऊँ। नहीं-नहीं! मुझे उठा कर बैठा दो, खोल दो पट्टी! मैं खेल चुका। मेरे सिर पर हाथ रख कर आसीस दो माता! अब मेरी जीत होगी। देखो, विनय सिंह इन्द्रदत्त और दूसरे मुझे बुला रहे हैं! उनके मुख पर कितना तेज है। मैं भी आता हूँ—यहाँ तुम्हारी कुछ सेवा न कर सका। अब वहीं करूँगा। माता-पिता, भाई-बन्द सब को सूरदास का राम-राम। अब जाता हूँ! जो कुछ बना-बिगड़ा, क्षमा करना–क्षमा करना! (मृत्यु)

सोफी–[रोती हुई] सूरदास! सूरदास–तुम भी चले गये!

जानसेवक–एक खिलाड़ी मैदान से चला गया।

डा. गाँगुली–एक अच्छा आदमी दुनिया से विदा हुआ।

[शोक-पूर्ण संगीत। समाप्ति]

महाराष्ट्र संतों की हिन्दी वाणी

—विनयमोहन शर्मा

प्राचीन युग में भारत में जिस सांस्कृतिक योग के दर्शन होते हैं वह सन्तों की जागरूकता और समन्वय-बुद्धि के कारण ही सध सका है। उनकी पर्यटन-प्रवृत्ति ने एक प्रान्त की संस्कृति—आचार, विचार, भाषा आदि—का दूसरे प्रान्तों में सहज संचार कर दिया था। प्रान्तीयता की दीवारें कभी भी उनके इस पुण्य-कार्य में बाधक नहीं हुईं। उन्होंने समस्त भारत-भूमि को अखण्ड रूप में देखा था। इसीलिए ज्ञान, धर्म, साहित्य और संस्कार का अमृत किसी प्रान्त-विशेष से झर कर उसी तक नहीं रह गया—उसने समस्त देश को आप्लावित किया। महाराष्ट्र के संतों ने जब उत्तर-देश के धर्म-क्षेत्रों की यात्रा की तो उन्होंने हिन्दी भाषा से परिचय प्राप्त किया और अपने हृदय में गुंजरित होने वाली वाणी को भी हिन्दी रूप दिया।

महाराष्ट्र में हिन्दी-प्रवेश का श्रेय सन्तों को है। वहाँ मध्य-युग में दो प्रमुख धर्म-सम्प्रदाय प्रचलित थे—एक महानुभाव पंथ और दूसरा नाथ अथवा वारकरी पंथ। महानुभाव-पंथ के संस्थापक चक्रधर माने जाते हैं, जो गुजरात से दक्षिण आये थे; और नाथ अथवा वारकरी पंथ उत्तर-भारतीय नाथ-सन्तों से अनुप्राणित रहा है। नाथ-सम्प्रदाय का प्रचार महाराष्ट्र में आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ के द्वारा हुआ था। वारकरी-संत अपनी गुरु-परम्परा इन्हीं से लेते हैं। यह नीचे दिये हुए वृक्ष से स्पष्ट है :—
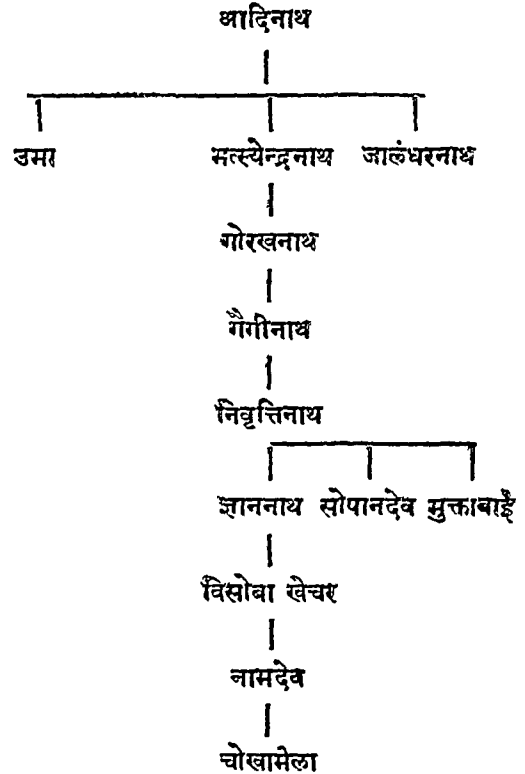
वारकरी सन्तों ने अपने गुरुओं—नाथों—की वाणी को आत्मसात् करने के लिए स्वभावतः हिन्दी भाषा से परिचय प्राप्त किया।

महानुभाव-पंथ का जन्म लगभग दसवीं शताब्दी माना जाता है और वारकरी-पंथ के प्रारम्भ के सम्बन्ध में मराठी साहित्यकारों में मतभेद है, पर उसके प्रसिद्ध संत ज्ञानदेव और नामदेव का काल

१२ वीं शताब्दी माना जाता है। महानुभाव पंथ विदर्भ में आविर्भूत हो कर महाराष्ट्र तक ही नहीं फैला, वह उत्तर भारत की सीमा पार कर काबुल तक छा गया था। अतएव उसके सन्तों ने व्यापक भाषा हिन्दी को बहुत पहले अपना लिया था। चक्रधर और उनके शिष्यों की हिन्दी रचनाएँ उपलब्ध हैं। इस निबन्ध में हम उक्त दोनों सम्प्रदायों के सन्तों की हिन्दी वाणी की बानगी प्रस्तुत करते हैं। इससे यह सिद्ध होगा कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में इन सन्तों ने सदियों पूर्व स्वीकार कर लिया था।

चक्रधर (शक संवत् ११९४)—ऊपर कहा जा चुका है कि ये महानुभाव-पंथ के प्रथम प्रचारक माने जाते हैं। इनकी हिन्दी वाणी का एक उदाहरण देखिए :—

सुती बंधी स्थिर होई जेणे तुम्ही जाई।
सो परो मौरो वैरी आणता काई॥

उमाम्बा—यह महानुभाव-पंथी नागदेवाचार्य की बहिन थीं। नागदेवाचार्य चक्रधर के शिष्य माने जाते हैं, उमाम्बा का काल भी चक्रधर का काल समझा जाना चाहिए। उमाम्बा ने भी हिन्दी में चौपदी लिखने का प्रयास किया है :—

नगर द्वार हो भिच्छा करो हो बापुरे मोरी अवस्था लो।
जिहा जावों तिहा आप सरिसा कोऊ न करी मोरी चिंता लो॥
हाट चौहाटा पड़ रहूँ माँग पंच घर भिच्छा।
बापुड लोक मोरी अवस्था कोऊ न करी मोरी चिंता लो॥

कृष्णमुनि—ये महानुभाव पंथी संत हैं। इनके द्वारा ही पंजाब में इस पंथ का प्रचार हुआ है। इनकी कविता का नमूना—

जड़ मूल बिन देखा एक दरखत गूलर का।
उसको अनत अपार गूलर लागे शुमार नहीं फूलों का।
जमीन आसमान बराबर देखे—दो सूरज चन्दा देखे नौ लख तारे।
चौदाह भुवन सातों दरयाव मेरू परवत नदी नाले कई हजार।

ज्ञानेश्वर—ये महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत हैं। इनका जन्म सं. १३३२ विक्रम में गोदावरी के निकट आपेगांव में हुआ था। नाथ-सम्प्रदाय में ज्ञानेश्वर की बड़ी महिमा है। इन्होंने अपने उपदेशों में गुरु-भक्ति, ईश्वर-भक्ति और लोक-व्यवहार पर अधिक आग्रह प्रकट किया है। इनकी "ज्ञानेश्वरी" की यही विचार-धारा है। आध्यात्मिक उन्नति के लिए जप-तप, संयम आदि से भी अधिक गुरु के अनुग्रह को उन्होंने महत्त्व दिया है। ज्ञानेश्वर ने भी महाराष्ट्र से बाहर उत्तर की यात्रा की थी। मराठी के अतिरिक्त हिन्दी में भी इनकी वाणी मिलती है, जिसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

सोई कच्चावे, नहीं गुरु का बच्चा।
दुनिया तज कर खाक रमाई, जा कर बैठा वन मों
खेचरि मुद्रा वज्रासन मों, ध्यान धरत है मन मों।
तीरथ करके उम्मर खोई, जागे जुगति मों सारी।

× × ×

हुकुम निवृति का ज्ञानेश्वर को तिनके ऊपर जाना
सदगुरु की कृपा भई जब, आपहि आप पिछाना।

मुक्ता बाई—ये ज्ञानेश्वर की बहिन थीं और अपने भाई के साहचर्य से संत-मार्ग में प्रविष्ट हुई थीं। इसी से ये अपने भाई को गुरु भी मानती थीं। इनकी वाणी में स्त्री-सुलभ माधुर्य पाया जाता है। भक्ति, ज्ञान, योग, वैराग्य पर इनके मराठी में सुन्दर पद मिलते हैं। हिन्दी में भी इनकी रचना पायी गयी है—

वाह-वाह साहबजी सदगुरु लाल गुसाई जी।
लाल बीच मों उदला काला ओंठ पीठ सों काला
पीत उन्मनी भ्रमर गुफा रस झुलने वाला।

सदगुरु चेले दोनों बराबर एक दस्त मों माई।
एक से ऐसे दर्शन पाये महाराज मुक्ता बाई।

नामदेव—ये सं. १३२७ विक्रम में सतारा जिले के नरूसी बमनी गांव में उत्पन्न हुए थे। यद्यपि नामदेव की भक्ति पंढरपुर के विठ्ठलदेव से प्रारंभ होती है तो भी उसका परिपाक निर्गुण रूप में हुआ। पंढरपुर के 'विठ्ठल' निर्गुण ब्रह्म बन गये। नामदेव उत्तर भारत में कबीर के पूर्व निर्गुण मत का बीज बो चुके थे। इन्होंने पंजाब तक धार्मिक अभियान किया था, जहां इनके अनुयायियों की पर्याप्त संख्या आज तक विद्यमान है। सिक्खों के ग्रन्थ साहब में इनके अनेक पद संगृहीत हैं। मराठी में तो इनके अभंगों की धूम है ही। इनके हिन्दी पदों का एक उदाहरण दिया जाता है—

ऐसे रामराइ अंतरजामी, जैसे दरपन माहि बदन पखानी
बढे घटाघट लोप न छीप, बंधन मुकताजातु न दीसै।
पानी माहि देखु मुखु जैसा, नामे को सुआमी
बीठलु ऐसा॥

कबीर के समान नामदेव ने 'पाहन पूजन' का भी निषेध किया है—

एकै पत्थर कीजे भाऊ
दूजै पा कर धरिए पाऊँ
जे ओहु देव त ओहु भी देवा
कहि नामदेव हम हरि की सेवा॥

कबीर कहते हैं—

पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजूं पहार।
तातें यह चाकी भली, पीस खाय संसार॥

कबीर के समान गुरु-महिमा पर भी नामदेव कहते हैं:—

बलिहारी गुरू आपणे ज्यां हाड़ी कै वार
जिनि मानष ते देवता, करत न लागी वार॥

भानुदास— ये महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत एकनाथ महाराज के प्रपितामह थे। इनका काल सं० १५५५ वि० निश्चित है। इनकी मधुर प्रभाती का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

उठहु लाल मात कहै, रजनी को तिमिर गयो,
मिलत बाल सकल ग्वाल, सुन्दर कन्हाई
जागहु गोपाल लाल, जागहु गोविन्द लाल
जननि बलि जाई।
संगी सब फिरत बयन, तुम बिन नहिं छुटत धेनु,
तजहु सपन कमल नयन, सुन्दर सुखदाई।
मुख ते पट दूर कीजो, जननी को दरस दीजो,
दधि खीर माँग लीजो, खांड औ मिठाई।
झमल झमल श्याम राम, सुंदर मुख तव ललाम,
थाली की टूट कछु 'भानुदास' पाई।

एकनाथ— ये हिन्दी के अमर कवि तुलसीदास के समय में आविर्भूत हुए थे। इनका जन्म पंठण में सं० १५८९ वि० में हुआ था। ये भानुदास के पौत्र थे। आरम्भ में ये दत्तात्रेय के उपासक थे; बाद में भागवत धर्म में इनकी इतनी अधिक आस्था बढ़ी कि ये 'बाल भागवत' के नाम से अभिहित हुए। 'भावार्थ रामायण' इनका सब से बड़ा ग्रंथ है; जो ४० हजार पदों में लिखा गया है। एकनाथ काशी में बहुत समय तक रहे। अतः उनकी बहुत सी हिन्दी रचनाएँ भी पायी जाती हैं, जिसकी एक बानगी नीचे दी जाती है—

देव छिनाल का छिनाल का।
खेल खिलाड़ी बाँका॥
छंद बड़ा सुखर को बांटा
जाकर झरोके में बैठा
× × ×
एकनाथ का वाली
उसे कौन देवे गाली।

तुकाराम— ये वारकरी पंथ के प्रसिद्ध संत हैं। इनका जीवन तुलसीदास के चरित्र से मिलता-

तुलता है। इनका काल १४६० शके है। इनकी हिन्दी रचना का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

तुका वड़ो वह ना तुले, जाहे पास वहु दाम।
वलिहारो वा वदन को, जेहिते निकसे राम॥
तुका कह जगभ्रम परा, कहां न मानत कोय।
हाय परेगा काल के, मार फेरि है डोय॥

कान्होवा— ये तुकाराम के भाई थे। इनकी हिन्दी रचना का यह उदाहरण है—

चुरा चुरा कर माखन खाया, ग्वालिन का नंदकुमार कन्हैया।
काटे वड़ाई दिखावत मोही, जानत हूँ प्रभु मन तेरो सव ही॥
और वात सुन उखल सो गला वाँध लिया तूने अपना गोपाला।
फिरता वन वन गाय चरावत, केहे तुकया वंधु लकरी लेले हाथ॥

जनी जनार्दन— ये एकनाथ जी के गुरु-भाई थे। उनका काल शके १५२२ है। इनकी हिन्दी रचना इस प्रकार है—

जव तू आया, तव क्या लाया, क्या ले जावेगा।
किनने बुलाया, झूठा धंधा, पड़िया फंदा, देखते क्या हो अँधा
कहत जनार्दन सुन अरे मन, न छोड़ उस साई के चरन॥

समर्थ रामदास— शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास की वाणी से महाराष्ट्र का अणु-अणु गुंजरित है। इनके अमर ग्रन्थ "रामदास वोध" का घर-घर पाठ किया जाता है। इन्होंने समस्त भारत में भ्रमण कर राष्ट्र-धर्म-प्रचारक मठ स्थापित किये। इनकी एक हिन्दी रचना निम्न-प्रकार है—

चातुर चतुर को चटकार।
रसिक वचन जन दरशन मन में उवज लगत चटकोर

रामदास तथा उनके साथी चार साधु समष्टि रूप से पंचायतन कहलाते हैं। उनमें केशव स्वामी और रंगनाथ स्वामी ने हिन्दी रचनाएँ की थीं।

मानसिंह—ये शिवाजी के समकालीन नाथपंथी संत हैं। इनकी हिन्दी रचना का यह नमूना है—

विगरी कौन सुधारे, नाथ-विन विगरी कौन सुधारे?
वर्ना वने का सव कोई साथी विगरी काम न आवे रे॥

वया वाई—ये समर्थ रामदास की शिष्या थीं। इन्होंने भी हिन्दी-रचना की है—

वाग रंगेली महल वना है।
महल के वोच में झूलना पड़ा है
इस झुलने पर झूलो रे भाई
जनम मरण की याद न आई
दासी वया कहे गुरु भैया ने
मुझ को झुलाया सोही झुलावे॥

सोहिरोवा नाथ—इनका जन्म शके १६३६ में हुआ था। उनकी हिन्दी रचना की कतिपय पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

अवधूत, नहीं गरज तेरी, हम वेपरवाह फकीरी।
तू है राजा, हम हैं जोगी, प्रथक पंथ का न्यारा।
छत्रपती सव तेरे सरीखे, पांउन पेर हमारा॥
फौजवंद तुम, झोलवंद हम चार खूंट जागीरी।
तीन काल में हुआए, फिरते घर घर अलख पुकारी॥
सोना चादी हमें न चाहिये, अलख भुवन के वासी।
महल मुलक सव पशम वरावर हम गुरु नाम उपासी॥
तूही डूवे हमें डुवावे, तेरा हम क्या लिया।
कहे सोहिरा, सुनो मुहाद जो प्रकाश जोग गंवाया॥

ये अलमस्त संत ग्वालियर राज्य के संस्थापक महाद जी सेंधिया से रुष्ट हो गये थे, जिसकी प्रतिछाया उपरि-लिखित पंक्तियों में दिखाई देती है।

देवनाथ—ये विदर्भ-निवासी संत थे। इनका काल सन् १७५४ माना जाता है। इनकी हिन्दी रचना पर्याप्त मात्रा में मिलती है। उदाहरणार्थ निम्न-पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

आज मोरी सांवरिया से लागी प्रीति।
रैन दिन मोहे चैन परे नहिं उलट भई सव रीति॥
कहा कहो कहं जाउ सखी री कैसे वनी अव वीति।
देवनाथ प्रभुनाथ निरंजन निश दिन गावे गीति॥

दयालनाथ—ये देवनाथ के शिष्य थे। इनकी हिन्दी रचना की कतिपय पंक्तियाँ ये हैं—

जरा हँस हँस वेणु बजाओ जी, तुम्हें दुहाई नंदचरण की
लटपट पेंच मुकुट पर छूटे हंसि आवत तेरे लटकन की
घूंघट खोल दरस मोहि दीजे चोट चलाओ नयना पलकन की
सब वनिता विरहन की मारी, वृत्ति विकल भव छन मन की
देवनाथ प्रभु दयालु तुम हो, आस लगी पद सुमिरन की।

महीपतिनाथ—इनका काल शके १७४५ है। हिन्दी रचना का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

धीरे धीरे झूलो जी नंदलाल॥
वर्षा ऋतु सावन का महीना, गावो राग मल्हार
तुम सुकुमार कुंवर कन्हैया, ऊँची कदंब की डार।
पवन छूटे बिजली चमके, उड़त कांधे रुमाल
नरहरि महापति गावें नाचे, सब संग ग्वाल गोपाल॥

महाराष्ट्र संतों की हिन्दी-रचना का प्रारम्भ चंद वरदाई से भी पहले हो चुका था। अतएव उसमें हिन्दी के क्रमिक विकास का भी आभास मिलता है। सन्तों की रचनाओं के अधिकांश उदाहरणों के लिए लेखक श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव जी का कृतज्ञ है।

संसार में चार तरह के मनुष्य हैं—

एक, जो कुछ नहीं जानते, और नहीं जानते कि वे कुछ नहीं जानते: ये मूर्ख हैं—इन्हें अपने से दूर रक्खो।

दूसरे, जो कुछ नहीं जानते, और जानते हैं कि वे कुछ नहीं जानते: ये सीधे-सादे हैं—इन्हें सिखाओ।

तीसरे, जो जानते हैं, और नहीं जानते कि वे जानते हैं: ये सोये हुए हैं—इन्हें जगाओ।

चौथे, जो जानते हैं, और जानते हैं कि वे जानते हैं: ये बुद्धिमान हैं—इनके पीछे चलो।

—लेडी बर्टन

आरम्भ, उत्कर्ष और निष्पत्ति

—सत्येन्द्र शरत्

मैं, रंजन और भारती, हम तीनो ही उस फ्लैट मे रहते थे। किस तरह रहते थे, इसका ब्योरा देना आवश्यक होगा। आप अनुमान कर लीजिए: अनेक भले गृहस्थों तथा शालीन-सभ्य परिवारो से भरे-पुरे मुहल्ले में तीन नवयुवक—तीनों अविवाहित, खुश-शकल, और साथ ही रोमांटिक स्वभाव के—अपनी सज्जनता पर तनिक भी आँच न आने देते हुए, जिस प्रकार सब की दृष्टि में शरीफ व सच्चरित्र बने रह सकते हैं, उसी प्रकार हम भी रहते थे। हम तीनो 'पत्रिका' मे सब-एडीटर थे। प्रायः रात की ड्यूटी लेना पसंद करते थे। सो रात के आठ बजे के घर से निकले हुए हम अपनी ड्यूटी पूरी कर टार्चें हाथ में लिये उनींदी आँखों से सुबह पाँच बजे तक घर लौटते। नींद पूरी करके हम साढ़े ग्यारह तक उठते। नहा-धो कर साढ़े बारह के लगभग फिर निकल जाते, और खाना आदि खा कर शाम तक इधर-उधर सप्रयोजन-निष्प्रयोजन घूमते रहते। घर लौटते हम सवा छः के निकट; और दो-एक घंटे घर में बिता फिर ड्यूटी पर जाने के लिए तैयार हो जाते। इस प्रकार हमारा प्रायः वह सब समय जिसमें हम किसी को शिकायत का अवसर दे सकते थे, सोने या बाहर घूमने मे ही निकल जाता था। यही कारण था कि मुहल्ले के किसी भलेमानस ने हमें नौजवान होने पर भी किसी लड़की की ओर घूरते, इशारे करते या उनका आगा-पीछा करते न देखा था। लोगो को हमारे आचरण से पूर्णतया संतोष था। हम भी जान-बूझ कर किसी प्रकार का कोई संदिग्ध कार्य न करते—न बाल काढ़ते या टाई की नॉट बाँधते हुए सहसा बाहर बरामदे मे निकल आते, न जाड़ो मे तेल-मालिश का बहाना कर बदन उघाड़े देर तक छत पर बैठे रहते, न कभी कैमरा ले कर छत पर नीले-काले बादलों और उड़ते पक्षियो के स्नैप लेने की कोशिश करते। फिल्मी गाने तो ऑफिस मे ही गा लिया करते थे। यानी कुल मिला कर इतने रक्षा-कवच हमने अपने इर्द-गिर्द एकत्र कर रखे थे कि उन्हें भेद कर किसी प्रकार की भी कोई आँच हम तक आनी सम्भव न थी। यह बात नहीं कि हमें अपना मन मारने में कोई कष्ट नहीं होता था, लेकिन मजबूरी थी। बहुत दौड़-धूप के बाद मिला यह शरणस्थल (फ्लैट से मतलब है) लोगों की शिकायतों के कारण कहीं हाथों से न निकल जाए, इस डर ने हमें बलात् शरीफ़ बना रखा था। जो भी 'लोफ़री' हमें करनी होती, मुहल्ले के बाहर करते। वैसे मुहल्ले वालो को हमारे इस 'दूध-धोये-पन' पर आश्चर्य भी न था, क्योंकि न जाने कैसे उन लोगों को बैठे-बिठाये यह ख्याल हो गया था कि हम लोगो में से रंजन और भारती के तो विवाह हो चुके हैं, किन्तु रंजन की पत्नी मर गयी है और भारती का अभी गौना नहीं हुआ; मेरी सगाई हो चुकी है, लेकिन अभी विवाह नही हुआ है।

[हम ने ही एक दिन हँसी में अपनी धोबिन से यह बात उड़ायी थी—शायद उसी ने मुहल्ले भर में प्रसारित कर दी थी ।]

हम तीनों एम. ए. थे । मै और भारती हिन्दी में, रंजन फ़िलॉसफ़ी में । भारती और मैं तो लिखा-लिखाया भी करते थे, तथा अपने परिचितो में लेखक के नाम से ही प्रसिद्ध थे । लेखक होने के नाते हम मनोविज्ञान में भी थोड़ा-बहुत दखल रखते थे । हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेने वाले किसी भी व्यक्ति को देखते ही हम उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन एवं विश्लेषण प्रारम्भ कर देते । फिर हम लोगों मे बहस छिड़ जाती । प्रायः रंजन ही (फ़िलॉसफ़ी मे डिग्रीशुदा होने के कारण) हम लोगों के अनुमानों का खण्डन करता; हमारी धारणाओ को गलत बताता तथा अनेक मनोवेत्ताओ के पुस्तकीय उद्धरणों द्वारा अपने कथन की पुष्टि करता ! कभी हम उसके तर्क मान जाते । कभी उसका नकारात्मक ढंग से विरोध करते ! बहस अधिकतर स्त्री-पात्रो या स्त्री-चरित्रो को ले कर ही होती । ऐसी दशा मे उद्धरण भी फ्रॉयड और एडलर के ही दिये जाते ?

जो बात मैं सुनाने जा रहा हूँ उसकी नौबत ही न आ पाती, यदि हमारे सामने वाला मकान सहसा खाली हो कर, तथा कुछ दिन खाली रह कर सहसा ही न भर जाता । कई वर्ष से उस मकान में एक पेंशनयाफ्ता सज्जन अपनी पत्नी के साथ सीधे-सादे ढंग से रह रहे थे । इस परिवार से हमें कोई दिलचस्पी न थी । इसी कारण इन लोगों के बिना कुछ कहे-सुने मकान छोड़ देने पर हमें कोई विशेष आश्चर्य न हुआ । एकाध दिन तो हमने इस बाबत बात की, उसके बाद चीज़ हमारे ध्यान से उतर गयी । मकान के दरवाज़े का बड़ा ताला अब हमारे लिए एक ऐसी वस्तु हो गयी जिसे हम देख कर भी नहीं देखते थे । खाली दिमाग से उस ओर देखा, और बातो मे व्यस्त आगे बढ़ गये ।

हफ्ता भर भी न हो पाया था कि एक रोज़ दिन मे खाना खाने जाते समय हमने मकान का दरवाज़ा खुला देखा और उसके अंदर सफ़ाई करने का शोर सुना । झाड़ू लगाये जाने और पानी से फ़र्श धोने की आवाज़ बाहर तक सुनायी दे रही थी । रंजन ने मेरी ओर मुसकराती दृष्टि से देखते हुए कहा, "लो भाई, जल्दी ही मकान की क़िस्मत जाग गयी......चलो, बहुत खुशी की बात है । पड़ोस सदा आबाद रहना चाहिए ।"

मैंने मुसकरा कर कंधे बिचकाये । बोला, "अपने को क्या ? चाहे पड़ोस आबाद रहे या बरबाद । हाँ, तुम्हारी खुशी की बात पक्की है...."

"वह क्यो ?" रंजन ने व्यग्रता की मुद्रा में प्रश्न किया ।

"तुम्हें अपने 'मनोवैज्ञानिक अध्ययन' के लिए पात्र जो मिलेंगे ।"

"और तुम्हें भी तो अपनी कहानियो के लिए पात्र मिलेंगे— सजीव, प्रेरणा देने वाले !"

मैं हँसा, "हाँ जी, कुछ मुझे पहले किरायेदारो से प्रेरणा मिली थी, कुछ इन से मिलेगी !"

"भाई, वे लोग तो ओवर-एज थे," रंजन ने शरारती लहजे मे कहा, "क्या पता, ये लोग अंडर-एज हों—मेरा मतलब है इस परिवार मे एकाध व्यक्ति अवश्य ही अंडर एज होगा । मतलब समझ रहे हो न मेरा ?"

मुझे और भारती को हँसी आ गयी। हँसते हुए भारती ने कहा, "मतलब खूब समझ रहे है तुम्हारा। अब चलो, खाना खा लो। लौट कर चाहे यहीं खड़े रहना।"

खाना खा कर उस दिन हम रोज़ाना की तरह कहीं घूमने या किसी मित्र से मिलने-जुलने नहीं गये, बल्कि सीधे घर लौट आये। उस समय तक मकान मे कोई नही आया था। सफ़ाई का कार्य शायद समाप्त हो चुका था और मकान में दुबारा ताला लटक गया था। उत्कंठा-भरी दृष्टि से ताले की ओर देखते हुए हम अपने फ्लट मे घुसे। थोड़ी देर बातचीत करते रहे, फिर पड़ कर सो गये।

दो-ढाई घंटे की नींद के बाद सब से पहले मेरी आँख खुली। क्योंकि अंकुर मन मे पड़ चुका था, इस कारण अचाहे ही मै बाहर बरामदे में निकल आया। मकान के सामने एक पिक-अप खड़ा था, और दो-तीन कुली उस पर से सामान उतार रहे थे। बराबर मे एक युवा स्त्री सामान उतारने के सम्बंध मे उन्हे कुछ आदेश दे रही थी। उसके निकट लगभग पॉच वर्ष का, छोटा-सा, गोल-गूॅथना बालक उँगली मुँह मे डाले कुछ विस्मय के भाव से कुलियो द्वारा सामान के बड़े बक्स को उतारे जाते हुए देख रहा था। बॉयें हाथ से उसने अपने मॉ की साड़ी का छोर पकड़ रखा था। मै बरामदे की रेलिंग पर और अधिक झुक गया, जिससे स्त्री के चेहरे को स्पष्टतः देख सकूँ। स्त्री गेहुऍ-से रंग की थी, और किसी बनावटी टीम-टाम और चटकीले वस्त्रों के बिना ही काफी आकर्षक लग रही थी। उसने वायल की छपी साड़ी पहिन रखी थी; हाथो मे शायद सोने की चूड़ियॉ थीं और पैरों में सफेद जूतियॉ। अभी तक मुझे उसका प्रोफील दीख रहा था, किंतु सहसा वह आगे बढ़ कर कुलियो के निकट चली आयी और बक्स को जमीन पर रखे जाने मे उन्हें सहायता देने लगी। अब मै उसे बिल्कुल साफ देख सकता था। उसके शरीर और चेहरे की गठन निर्दोप थी। केवल एक मिनट देखने से ही मुझे यह प्रतीति हो गयी कि इस रमणी के दिन चाहे और कैसे भी निकले हो, खाली बैठ कर या सो कर नहीं निकले। चेहरे से स्पष्ट था कि इस प्राणी ने जीवन-संघर्ष देखा है, स्यात् उसका प्रखरता से अनुभव भी किया है; और यही कारण है कि इस चेहरे को समय और संघर्ष की ओर से एक ऐसी विषादमयी आभा की भेंट मिली है जिसने इस रमणी को अनुपम लावण्य एवं आकर्षण प्रदान किया है। उसके नेत्र काले व गहरे थे, तथा नेत्रो की वह गहराई कदाचित् विषाद की कालिमा के कारण और अधिक प्रगाढ हो गयी थी।

मै लपक कर अंदर गया। नवाबों को झकझोरता हुआ बोला, "उठिए हजरत! नये किरायेदार आ गये।"

मेरे पहले वाक्य को उन दोनो भागवानों ने सुन कर भी नही सुना; किंतु दूसरे वाक्य ने जैसे उन्हे बिजली से छू दिया। फौरन तड़प कर उठ बैठे। रंजन ने छूटते ही प्रश्न दागा, "कौन-कौन है परिवार में? क्या लम्बा-चौड़ा परिवार है?"

"नहीं", मैंने कहा, "मैंने तो केवल एक स्त्री, और एक छोटे बच्चे को ही देखा है।"

रंजन ने बेताबी से पूछा, "स्त्री युवा है, या अधेड़?"

"युवा", मैंने उत्तर दिया।

"नमक है उसमें?" भारती ने जिज्ञासा

प्रकट की, "कुछ रोमांस वगैरा भी भिड़ सकता है या नहीं ?"

भारती का प्रश्न स्वाभाविक था। उसके स्थान पर यदि मैं होता तो शायद मैं भी यही पूछता। किंतु क्योंकि मै उस रमणी को देख चुका था और उससे प्रभावित हो कर लौटा था, मुझे भारती का प्रश्न खटक गया—जैसे वह प्रश्न मेरी किसी आत्मीया के लिए किया गया हो। एक क्षीण झल्लाहट से मैंने कहा, "यार, कुछ तो शर्म करो! वह शरीफ़ घराने की औरत है। विवाहिता है, और बाल-बच्चेदार है......"

भारती बेशर्मों की तरह हँसा। फिर बोला, "ओ हो! अभी से तरफ़दारी शुरू हो गयी! क्या बात है, इतनी देर मे मोह पैदा हो गया ?" फिर रंजन की ओर मुड़ कर बोला, "भाई, यह शरीफ़ज़ादा तो अब कुछ बताने से रहा। चलो, हम ही देख आएँ।"

दोनो उत्साहपूर्वक उठे ओर बरामदे में चले गये।

कुछ देर यों ही खड़ा रह कर मैं भी निरुद्देश्य बरामदे में चला आया। दोनो जिज्ञासु रेलिंग पर झुके निरीक्षण मे व्यस्त थे। उस निरीक्षण के फल-स्वरूप मन्तव्य प्रकट किये जा रहे थे। रंजन का 'मनोवैज्ञानिक अध्ययन' प्रारम्भ हो गया था। वह कह रहा था, "मैं शर्त लगाता हूँ, औरत पोज़ करने वाली है। शकल से ही लगता है कि हिपोक्रिट है......"। भारती दैहिक अध्ययन मे संलग्न था, "बायीं तरफ़ एक नन्हा-मुन्ना-सा तिल होता तो मज़ा आ जाता। लेकिन तिस पर भी है सेक्स-अपील काफ़ी मात्रा मे मौजूद—यह मानना पड़ेगा......" आदि-आदि। उनके रिमार्कों को सुन कर मुझे अपनी हँसी रोकना कठिन हो गया। तभी रंजन ने मुड़ कर मेरी ओर देखा और बोला, "अच्छी है—बल्कि ज़रूरत से ज्यादा अच्छी है। क्यों, है न ?"

मुझे हँसी आ गयी। एक हिंदुस्तानी फ़िल्म के नायक की तरह मैंने कहा, "लेकिन रंजन, वह माँ है, माँ......"

"माँ भी तो किसी न किसी की प्रेयसी ही होती है..." रंजन ने विज्ञतापूर्वक कहा।

यह बात इतने बेहूदा तौर पर सत्य थी कि मैं इसका कोई उत्तर न दे सका।

सहसा तभी रमणी ने फुसफुसाहट सुन कर हमारी ओर देखा और पाया कि छः आँखें उसकी ओर टकटकी लगा कर देख रही हैं। किन्तु हमारे आश्चर्य की सीमा न रही जब हमने देखा कि रमणी अपनी दृष्टि हटा कर दूसरी ओर फेर लेने के बजाय उसी साहस और निर्भीकता से हमारी ओर देख रही है, जिससे हम उसे ताक रहे थे। अन्तर केवल हमारी और उसकी दृष्टियो के भावो मे था। हमारी दृष्टियाँ भूखी थीं, उनमे उसके शरीर को निगल जाने का भाव था; जब कि उसकी दृष्टि सन्तुष्ट व्यक्ति की दृष्टि थी जिससे यह स्पष्टतः परिलक्षित होता था कि हमको इस भाव से देखा जा रहा है जैसे हम हाड़-माँस के युवा पुरुष नहीं, सड़क पर गड़े मील के पत्थर या रँगे-पुते बिजली के खंभे हैं! दृष्टियाँ आपस मे टकराने पर भी महिला ने अपनी नजर नहीं हटायी, लगातार हमारी ओर देखती रही। कुछ लज्जित से हो कर हम लोगो ने ही अपनी नजर नीची कर ली, और बरामदे से कमरे मे आ गये।

"बहुत बोल्ड है! तीन मिनट तक लगातार आँखें मिलाये ही खड़ी रही! पलक तक नहीं झपकायी!" भारती ने प्रशंसात्मक स्वर मे कहा।

"मैंने पहले ही कहा था," रंजन ने आवेश में अपना स्वर ऊँचा करते हुए कहा, "बहुत पोज करने वाली है!" फिर कुछ रुक कर बोला, "मुझे तो शिकारी प्रकृति की मलूम पड़ती है।"

यहाँ यह स्पष्टतः लिख देना आवश्यक होगा कि हम तीनो नवयुवक मध्यमवर्ग और ठेठ मध्यमवर्गीय परिस्थितियो की ही उपज थे। और ऐसी दशा मे, जैसा कि स्वाभाविक था, हम बचपन से ही स्त्री-वर्ग के सहवास से वंचित थे। स्त्रियो का सहवास थोड़ा-बहुत जो भी हमे प्राप्त हुआ था, वह केवल अपनी ममेरी और चचेरी बहिनो द्वारा; और आगे चल कर युनिवर्सिटी मे अपनी सहपाठिनियो द्वारा। दोनों दिशाओ में एक सुनिश्चित सीमा थी, जिससे आगे बढ़ना संभव नही था। इसी कारण स्त्री-वर्ग के सहवास के लिए हम लोगो के मन में जो भूख जगी थी उसका निवारण नहीं हो पाया था। और यही कारण था कि आजकल के अधिकांश नवयुवकों की भाँति हम भी स्त्री-वर्ग के संबन्ध में हलकी और घटिया तरह की बातें करने का लोभ नहीं संवरण कर पाते थे; तथा व्यक्ति-विशेष के सामने आने पर या उसकी चर्चा होने पर हम लगभग अश्लील एवं उच्छृंखल-सी मजाकें कर अपने दिलो की भड़ास मिटा लिया करते थे। हमारी अवस्था उस व्यक्ति की जैसी थी जिसकी पाचन-शक्ति तो बिल्कुल ठीक हो, किन्तु जिसे निरन्तर पथ्य दिया जाए; और जो अपनी विवशता को छिपाने के लिए भूटमूठ ही डींग हाँके कि अब तो उसे स्वस्थ मनुष्यो के भोजन से बिलकुल अरुचि हो गयी है......।

तीसरे या चौथे दिन हमारी धोबिन आयी। धोबिन हमारे मुहल्ले का चलता-फिरता रेडियो थी। भारती ने उसे देख कर पड़ोस की बातें शुरू की। और तब उसके द्वारा हमे मालूम हुआ कि हमारे नये पड़ोसी के परिवार मे तीन प्राणी हैं—पति, पत्नी और छोटा बच्चा अशोक। पति को टी. बी. हो गयी है। है तो नौजवान ही, लेकिन हालत खराब है। शायद ही बचे। वैसे इलाज हो रहा है। घर मे नौकर नही है। बीबी जी बेचारी दिन-रात काम मे लगी रहती है—खाना बनाती है, बरतन साफ़ करती हैं, फिर बाबू जी की टहल-पानी; बाज़ार से सामान तक खुद लाती है। पलक झपकने तक की फुरसत नहीं मिलती बेचारी को। वैसे हैं तो बड़े आदमी, लेकिन आजकल बीमारी की वजह से तंग है; लेकिन इतने तंग भी नही कि दूसरों के आगे हाथ फैलाना पड़े। काम चल ही रहा है......

दूसरे दिन ग्यारह बजे के लगभग मैं ब्लेड्स ले कर पास की जनरल-मर्चेंट की दूकान से निकल रहा था कि मैने सामने से पड़ोसिन रमणी को आते देखा। मैं वही ठिठका खड़ा रह गया। रमणी के हाथ मे दवाई की शीशियाँ थी, कुछ फल भी थे। शायद वह डॉक्टर के पास से लौट रही थी। मुझे अपनी ओर उसी असभ्यतापूर्वक घूरता पा कर स्यात् वह मुझे पहचान गयी। वह भी मेरी ओर उसी प्रकार देखने लगी। लज्जित भाव से मैंने दृष्टि चुरा ली और दूसरी ओर देखने लगा। किंतु फिर भी उसने मेरी ओर देखना बंद न

किया और बराबर मुझे देखती रही जब तक कि वह मुझसे आगे न बढ़ गयी। वैसे तो उसका यह सारा ही व्यवहार आश्चर्य में डालने वाला था, परंतु सब से विचित्र बात यह थी कि उस दिन की भाँति आज भी उसकी दृष्टि में रत्ती भर भी फटकार, घृणा अथवा भर्त्सना का आभास न था। वह मुझे बिल्कुल इस तरह देख रही थी जैसे मैं दूकान की शो-विंडो में सजा चीनी-मिट्टी का कोई बबुआ हूँ।

मैं सिर झुकाये सोचता घर आया। कल शान धोबिन की बातें सुन कर निश्चय किया था कि ये लोग परदेश में विपत्ति में पड़े हुए हैं। मनुष्य और साथ ही पड़ोसी होने के नाते इनके पास अवश्य जाऊँगा और इनका विश्वास प्राप्त करने की चेष्टा करूँगा, ताकि जो भी सहायता इनकी मुझसे सम्भव हो सके, करूँ। किन्तु हाल की इस घटना ने मेरा उत्साह ठंडा कर दिया, और मैं यह सोच कर खामोश हो गया कि कहीं मेरे उनके यहाँ जाने का वे कोई ग़लत मतलब न लगाएँ......

इसी तरह दिन बिना किसी शोर-गुल के निकलते गये। रंजन और भारती का भी इस दौरान में पड़ोसिन महिला से अनेक बार साक्षात्कार हुआ, तथा प्रत्येक बार उसी व्यवहार की आवृत्ति हुई। वह हमें अत्यंत साधारण दृष्टि से अपलक देखती रही, जब तक कि हम लोग या वह स्वयं आगे न सरक गयी। घर पहुँच कर हम दुगनी तेजी से बहस करते। अनेक धारणाएँ महिला के सम्बन्ध में बनायी जातीं, किन्तु एक-दूसरे द्वारा स्वीकृत न होतीं। बहस खूब तूल पकड़ती, लेकिन फिर भी हम किसी निष्कर्ष तक नहीं पहुँचते। यों ही इधर-उधर अँधेरे में टामक-टोयें मारते रहते। झल्ला कर भारती मुझसे कहता, "मानता हूँ तुम्हारी बात, कि वह सच्चरित्र है, लेकिन कम्बख्त इस तरह घूम कर क्यों देखती है ? क्या ये लक्षण भी शरीफों के हैं ?"

इसी प्रकार एक और दिन मैं और भारती बैठे कुछ पढ़ रहे थे कि रंजन लपकता-सा आया और हमारे निकट बैठता हुआ बोला, "पार्टनर, आज तो मर मिटे !"

बात जिस टोन में कही गयी थी उससे स्पष्ट था कि यह मरना दुनिया से सदा के लिए कूच कर जाना नहीं है, वरन् जिंदा रहते हुए ही किसी पर मर मिटना है। सो बहुत हल्के तौर पर पूछा, "क्यों क्या बात हो गयी ?"

रंजन ने प्रसन्नता-मिश्रित उत्साह के स्वर में कहा, "आज मुझे ग्रे कम्पनी में अपनी पड़ोसिन मिल गयी। मैं एनासिन लेने गया था। वहीं वह बैठी हुई थी जब तक मैं एनासिन ले कर दूकान के बाहर न निकल गया, वह मुझे एकटक देखती रही।"

"सो क्या हुआ ? वह हम सभी को इसी तरह देखती रहती है," भारती ने लापरवाही से कहा और पेज पलट दिया।

"जनाब, यही तो खास बात है," रंजन ने हाथ से हवा चीरते हुए कहा और उत्साह के आवेश में खड़ा हो गया। हम हैरत से उसकी ओर देखने लगे कि वह कौन सी आश्चर्यजनक, अघटनीय बातें सुनाने जा रहा है।

"अब तक तो हमें वह देखती अवश्य थी, पर उसकी दृष्टि बिल्कुल कोरी होती थी, लेकिन आज उसने मुझे इस भावपूर्ण दृष्टि से देखा कि बस ! मैं कह नहीं सकता। क्योंकि मैं उसके

बिल्कुल निकट खड़ा था, इस कारण मैंने उसकी आँखों की अतल गहराई में छिपे आशय को स्पष्ट पढ़ लिया। उसमें एक आह्वान था, एक मूक निमन्त्रण···" रंजन ने एक लम्बी साँस छोड़ी, "काश! वे आँखे शादी-शुदा आँखे न हो कर कुँआरी आँखे होती, तो मैं···"

"खुदकुशी कर लेता," मैंने बात पूरी की।

"खुदकुशी कर लेता?" रंजन ने चिढ़ कर कहा, "अरे कम्बख्त, उसे भगा ले जाता!"

"जियो बेटे!" मैंने मुसकराते हुए कहा, "पृथ्वीराज चौहान के वंश के अन्तिम दीपक तुम्हीं तो हो!"

"हाँ हाँ!" भारती ने कहा, "यह तो तुम अब भी कर सकते हो। पर तुम्हे कुछ समय ठहरना पड़ेगा। उसका पति बचेगा तो है नहीं। उसकी मृत्यु के बाद स्त्री को किसी न किसी अवलम्ब की आवश्यकता तो पड़ेगी ही! अभी तो उसकी सारी उमर उसके सामने पड़ी है। क्यों न तुम्हीं वह सुदृढ़ आधार बन जाओ, जिसका सहारा लेकर वह अपनी जीवन-यात्रा पूरी कर सके? पर हाँ, ऐसी दशा मे तुम्हे एक बच्चे का भार भी मुफ्त में ही ग्रहण करना पड़ेगा।"

रंजन समझ गया कि उसे बनाया जा रहा है। सो व्यंग्यपूर्वक बोला, "क्यो, मैं ही क्यों, तुम लोग भी तो वह सुदृढ आधार बन सकते हो?"

भारती ने फुर्ती बरती। बोला, "अवश्य बन सकते हैं। लेकिन प्योर, देखती तो वह तुम्हें है भावपूर्ण और आशय-युक्त नेत्रों से। हमें तो रीति-दृष्टि से देखा जाता है।"

मैंने कहा, "जो कुछ भी हो, मैं नहीं मान सकता कि वह ऐसी है। उसके चेहरे से ही लगता है कि वह बहुत दृढ है।"

रंजन ने विज्ञतापूर्वक कहा, "अरे, तुम्हें क्या पता औरतों की बाबत? कभी कुछ पढ़ो तो पता चले। ब्रिल ने तो लिखा है कि ऐसी भी औरतें होती है जो स्वस्थ पति के मौजूद होते हुए भी कभी-कभी दूसरे पुरुष की कामना करती है—वेराइटी के लिए......"

न जाने कैसी ग्लानि-सी मेरे मन पर छा गयी। मैं और कुछ न कह कर वहाँ से उठ गया। रंजन कह रहा था, "वैसे तुम न मानो, यह बात दूसरी है।"

इतवार की बात है। मै अपने प्रकाशक के यहाँ से लौटा ही था कि भारती और रंजन—जो कदाचित् अब तक मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे—छूटते ही बोले, "लो भाई, पड़ोसिन के सम्बन्ध में हमने जो धारणा की थी, वह सच ही थी।"

रंजन ने मेरा मजाक़-सा उड़ाते हुए कहा, "और यह हज़रत हमारी बात सच ही नहीं मान रहे थे!"

उन लोगों के जोश-ख़रोश को देख कर मैं सहसा आश्चर्य मे आ गया। मालूम करने की कोशिश की कि आखिर क्या बात है...और तब मालूम हुआ कि अभी धोबिन आयी थी। उसी ने बताया कि पड़ोसिन बीमार युवक की दूसरी पत्नी है। वह लड़कियो के किसी स्कूल में मिस्ट्रेस थी। तभी उसका इस युवक से प्रेम हुआ। उस समय युवक की पहली पत्नी जीवित थी, जो टाँग की हड्डी के नासूर के कारण लम्बे अरसे से बीमार थी।

इसी दौरान में इन लोगों का यह प्रेम इतना अधिक बढ़ा कि युवक ने बीमार पत्नी के जीवित रहते ही उसकी छाती पर सौत ला धरी। पहली पत्नी इस धक्के के बाद और अधिक न जी सकी। बस, तब से ये लोग मज़े में हैं। युवक की माँ और बड़े भाई इस शादी के कारण सख़्त नाराज़ हैं, और इन लोगों से विशेष सम्बन्ध नहीं रखते। बूढ़ी माँ का तो यह ख़याल है कि इस पढ़ी-लिखी लड़की ने छल-बल से उसके सीधे-सादे लड़के को फँसा लिया है। जितने भी दिन यह गाँव में उनके पास रही, उन्होंने इसे कभी बहू की तरह नहीं माना —हमेशा रखैल की तरह इससे व्यवहार किया। अब चार-पाँच साल से तो ये लोग बाहर ही हैं। युवक की पहली पत्नी से जो लड़का है वह वहीं अपनी दादी और ताऊ के पास रह कर पढ़ रहा है। युवक पहले किसी अच्छे ओहदे पर था, अब डेढ़-दो साल से बीमार है। चंद दिनों का मेहमान समझो......

बात पूरी करके भारती ने बहुत गूढ़ ढंग से सिर हिलाया — इस भाव से कि 'देखा, हम क्या कहते थे !......'

रंजन सिगरेट सुलगाता हुआ इतमीनान से बोला, "अब तुम देखना, इस युवक की मौत के बाद वह किसी आर को फाँस लेगी। छः महीने के भीतर ही इसने दूसरा घर न ढूँढ़ लिया तो मेरा नाम रंजन से बदल कर और कुछ रख देना।"

" हाँ-हाँ ", भारती ने अत्यंत स्वाभाविकता-पूर्वक कहा, "भाई, उसके सामने उसका सारा भविष्य है, और फिर साथ में उमड़ती नदी की तरह उसकी यह जवानी ....दूसरा घर न बसाएगी तो जाएगी कहाँ ? हवा खा कर तो कोई ज़िंदा नहीं रह सकता। और पति के साथ यह सती हो जाए, ऐसा भी मुझे कोई लक्षण नहीं दीखता।"

"बल्कि लक्षण तो इसके विपरीत हैं," रंजन ने आँख मारते हुए कहा और हँस पड़ा।

"रंजन, अब तुम फ़ौरन अपना प्रार्थना-पत्र भेज दो। उसे अभी से मालूम हो जाना चाहिए कि तुम भी उम्मीदवारों में से एक हो, " भारती ने हँसते हुए कहा।

"अवश्य!" रंजन ने खिलखिलाने का प्रयास किया,"बच्चे की देख-भाल तुम अपने ऊपर ले लेना; रही बच्चे की माँ, सो उसकी देख-भाल मैं स्वयं कर लूँगा।"

दोनों ने इस पर एक ऊँचा क़हक़हा लगाया।

मेरे लिए अधिक बैठना कष्टप्रद हो गया। बात टालने की गरज़ से मैंने कहा,"हटाओ यार, वह कैसी भी हो और कुछ भी करे, मुझे क्या ? मैंने उस के चाल-चलन का कोई ठेका थोड़े ही लिया है ! वह जहन्नुम में जाए, मुझे मतलब ?" और उठ कर अपने कमरे मे चला आया। वैसे चाहता तो था कि इन दोनों से ख़ूब बहस करूँ ———— आख़िर घोबिन को यह सब कैसे मालूम हुआ ? पड़ोसिन ने स्वयं ही तो बताया होगा। यदि वह इसे कलंक-कथा समझती तो सबसे छिपा कर न रखती, स्वयं अपने-आप ही किसी दूसरे को क्यों बताती ?··· और फिर इस कथा में कलंक के लिए तो कोई स्थान है भी नहीं। क्या प्रेम करना पाप है ? हो सकता है, अपने प्रेम-पात्र के दुःख व उसकी परेशानियों को बँटाने के लिए ही पड़ोसिन महिला ने उस युवक से विवाह किया हो !...लेकिन मैंने

बहस न की। जानता था कि रंजन और भारती बहस करने में निष्णात हैं। बात को कहीं और ले उड़ेंगे।

आगे कहने को अब और अधिक कुछ नहीं रह जाता। एक पखवारे के अन्दर ही बीमार युवक का देहांत हो गया। हम उस समय प्रेस में थे। मुहल्ले के एक वृद्ध सज्जन दयाल बाबू ने फ़ोन कर हमें यह दुःसंवाद दिया और शीघ्र आने की प्रार्थना की। कहा, वह स्त्री बेचारी अकेली और निस्सहाय है। वैसे यह दुर्घटना सम्भव थी, लेकिन तब भी ख़बर सुन कर हम धक् से रह गये। हमारे घर पहुँचने तक मुहल्ले के काफ़ी आदमी एकत्र हो गये थे। घर में औरतें थीं। किसी प्रकार के चिल्लाने या रोने-धोने की आवाज़ नहीं थी। केवल एकत्रित औरतों की दबी हुई-सी फुसफुसाहट सुनायी पड़ रही थी। हाँ, जब हम अरथी उठा कर चलने लगे तब हमें नन्हें अशोक के सुबकने की आवाज़ सुनायी दी—"डैडी जी... हाय, डैडी जी!..." और सहसा उस अज्ञात युवक की मृत्यु के प्रति हम कातर हो उठे। हमारा हृदय भर आया तथा हमारी बालू जैसी सूखी आँखें भीगने लगीं...

चौथे दिन शाम की बात है। अँधेरा हो चुका था। हम लोग पार्क से टहल कर लौटे थे कि दरवाज़े पर एक मधुर स्वर सुनायी दिया, "मैं अन्दर आ सकती हूँ?" हम हड़बड़ा कर उठ बैठे। देखा, सामने पड़ोसिन महिला और नन्हा अशोक खड़े हैं। दोनों ने साफ़-सुथरे कपड़े पहन रखे हैं। हमारे "हाँ-हाँ; आइए न" कहने पर वे आगे बढ़ आये। मैंने देखा, महिला पर पड़ी विषाद की छाया अधिक प्रगाढ़ हो गयी है। आँखें भारी और सूजी-सी थीं, जैसे अधिक रोने पर हो जाया करती हैं। वैसे चेहरे से लगता था कि अपने को काफ़ी संयत किया गया है।

नमस्ते करके महिला बोली, "क्षमा कीजिएगा, मैंने आप लोगों को असमय कष्ट दिया। लेकिन विवशता थी।" तब अपने बैग से तार का एक फ़ार्म निकालती हुई बोली, "कुछ ही घंटे पहिले मुझे देहरादून से उनकी माँ जी का यह तार मिला है कि बड़ा लड़का, जो वहीं अपनी दादी के पास था, सख्त बीमार है। चेचक निकल आयी है। और मुझे शीघ्र ही उसके पास पहुँच जाना चाहिए। वैसे दो-तीन दिन में तो मैं स्वयं ही यहाँ से जाने वाली थी। सारा सामान पैक कर लिया था। बस कुछ बरतन और किताबें रह गयी थीं। और इस सामान को बुक कराना रह गया था। लेकिन अचानक ही यह तार आ गया है और मुझे अभी जाना पड़ रहा है। इस कारण आप लोगों से प्रार्थना है कि आप अपनी सुविधानुसार कल-परसों तक बचे हुए सामान को भी लकड़ी के बक्स में बंद कर, सारे सामान को देहरादून बुक कर दीजिएगा—पे फ्राइट। पता मैं आप को दिये देती हूँ। मैं अपने साथ कपड़ों का एक ट्रंक और बिस्तर ले जा रही हूँ। एक और कष्ट भी कीजिएगा। मकान की चाबी मकान-मालिक को सौंप कर मकान उसके हवाले कर दीजिएगा। इस अनुग्रह के लिए मैं आपकी सदा आभारी रहूँगी। यह लीजिए मकान की चाबी, और यह है देहरादून का पता," उसने चाबी और एक कागज़ के टुकड़े पर स्वच्छतापूर्वक लिखा अपना पता हमारी ओर बढ़ाते हुए कहा।

कुछ चेतना प्राप्त कर मैंने प्रश्न किया, "लेकिन अब आप आगे— यानी भविष्य में क्या करेंगी ?"

एक क्षीण-सी मुसकराहट चेहरे पर ला कर उसने उत्तर दिया, "मैं पहले जिस स्कूल मे मिस्ट्रेस थी, फिर उसी मे चली जाऊँगी। मेरी प्रिंसिपल मुझ से प्रसन्न हैं। मुझे फिर जगह मिल जाएगी। मेरे दो बच्चों के गुज़ारे भर के लिए मुझे मिल ही जाएगा।"

कमरे में चुप्पी छा गयी। लगभग एक मिनट बाद वह बोली, "मैं अचानक आपके पास इस आशा से—कि आप मेरी सहायता अवश्य करेंगे—कैसे चली आयी, इस पर आप आश्चर्य कर रहे होंगे; क्योंकि पड़ोसी होने पर भी आप लोग मेरे लिए अपरिचित ही थे। किन्तु क्या करती, दूसरा कोई चारा भी तो न था। जीवन-पथ को सरल-सुगम मैंने कभी नहीं माना है। इसी कारण पथ की बाधाओं तथा डगमगाते मोड़ों पर मार्ग को अवरुद्ध देखते हुए भी मैंने किसी अन्य की सहायता या सम्बल की अपेक्षा नहीं की है—जानती थी, संसार मे प्रत्येक व्यक्ति अपने ही भार एवं अपनी समस्याओं से इतना अधिक ग्रस्त है कि उसके लिए किसी अन्य की सहायता करना अत्यधिक कठिन है। आप इसे मनोवैज्ञानिक पदावली में मेरा 'अहम्' या अभिमान भी कह सकते हैं, मुझे स्वाकीर करने में रंचमात्र हिचकिचाहट न होगी। किन्तु अभी जो दुर्घटना हुई है उसके बाद भी मैं इतना बड़ा अभिमान कर सकूँ—इतनी शक्ति व दुस्साहस अब मेरे अन्दर नहीं है। ईश्वर ने मुझे इस योग्य रखा ही नहीं है। ऐसी दशा मे मुझे आपके पास आने में कोई झिझक नहीं हुई। मैं तो गिड़गिड़ाने तक के लिए प्रस्तुत हो कर आयी थी...इतनी सेवा व टहल-पानी के बाद भी मैं उन्हें न बचा सकी, यह मेरा दुर्भाग्य है; किन्तु यदि अपनी थोड़ी भी असावधानी के कारण मैं अपने बड़े लड़के की रक्षा न कर उसका अनिष्ट कर डालूँगी तो कदाचित् इस पाप के लिए मैं अपने को जीवन भर क्षमा न कर सकूँगी।" उसका गला भर आया और आँखों मे आँसू छलछला आये। अशोक के सिर पर हाथ फेरती हुई वह फिर बोली, "उनकी मेरे पास अनेक निशानियाँ हैं—एक यह भी है, लेकिन बड़ी बहिनजी की तो एकमात्र निशानी वही बालक है जो आज चारपाई पर पड़ा है। उसकी रक्षा तो करनी ही होगी। मैं आप लोगो के लिए ईश्वर से मंगल-प्रार्थना करती हूँ। आप भी प्रार्थना करें कि मेरा बीमार बालक स्वस्थ हो जाए। ले-दे कर अब ये ही बच्चे तो अपना सहारा हैं।"

रुक कर साड़ी के आँचल से अपने आँसू पोंछते हुए उसने कहा, "आप लोगों की इस कृपा के लिए मैं मृत्यु-पर्यन्त आभारी रहूँगी!" फिर नमस्ते कर बोली, "अच्छा, मैं अब चलूँगी। बाहर ताँगा खड़ा है।" वह दरवाज़े की ओर बढ़ने लगी।

सहसा घूम कर, खड़े हो कर उसने बच्चे से कहा, "अशोक, अपने मामाजी को नमस्ते नहीं की ? नमस्ते करो बेटे!"

और तब अशोक ने बहुत प्यारे ढंग से, कन्धे तक सिर झुका कर हम तीनो को बारी-बारी से नमस्ते की। लेकिन हमने तो पत्थर के बुतो को मात दे रखी थी। हमारे मुहो से एक शब्द तक न निकल सका। हॉ, हमारे हाथ न जाने किस अज्ञात प्रेरणा-वश अपने आप जुड़ गये।

महिला ने एक बार फिर मूक नमस्ते की,

और अशोक की उँगली पकड़ कर बाहर निकल गयी ! थोड़ी देर तक उसके चप्पलों की फट्-फट् सुनायी दी, और उसके बाद वह भी बन्द हो गयी।

हम तीनों ऐसे खड़े थे जैसे किसी ने हमारे कपड़े खींच कर हमें बिल्कुल नंगा कर दिया हो; और हम एक-दूसरे से क्या, स्वयं अपने-आप से ही लज्जा कर रहे हों।

थोड़ी देर बाद हमने ताँगे के जाने की आवाज़ सुनी, किन्तु हमारी मूर्तिमत्ता में तनिक भी अन्तर न आया। दो लेखक और एक मनोवैज्ञानिक लज्जित भाव से खड़े थे। रंजन हाथ के नाखूनों पर अपनी दृष्टि गड़ाये हुए था; भारती चाबी को शून्य व फीकी दृष्टि से देख रहा था; और मैं सिर नीचा किये पैर के अँगूठे से फ़र्श कुरेद रहा था। एक-दूसरे की ओर देखने तक का सहास हममें न था।

रंजन, भारती और मैं—हम तीनों फ़ेल हो गये थे......

रोटी का एक टुकड़ा, और सोने के लिए एक कोना; मुसकराने के लिए एक मिनिट, और रोने के लिए एक घंटा; हर्ष एक तोला भर, और विषाद सेरों; हँसी एक बार भी नहीं, और आहें दिन-दूनी; यह है जीवन !

—पॉल लारेंस डनबर

★ ★ ★

सभी को अपना दुःख का अंश भोगना है; सभी मानव हैं, कराहने के लिए एक-से शापित; कोमल-हृदय दूसरों के दुःखों पर आहें भरते हैं, निष्ठुर अपने दुःखों पर।

—ग्रे

★ ★ ★

विचारकों के लिए संसार एक सुखान्त नाटक है, और भावुकों के लिए दुःखान्त।

—होरेस वालपोल

पूँजीवाद का विकास

—रामनारायण यादवेन्दु

अर्थशास्त्रियों का मत है कि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में मानव-समाज ऐसे वर्गों में विभाजित नहीं था, जैसा कि आज हम देखते हैं। उस समय मानव-समाज के संगठन का आधार 'सहयोग' था। मानव छोटे-छोटे समुदायों में रहते थे और एक स्थान से दूसरे स्थान में भ्रमण करते रहते थे। वे अपने भोजन के लिए खाद्य-सामग्री मिल कर संचित करते और परस्पर बाँट कर खा लेते थे। इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने के कारण वे न अपना स्थायी गृह बना सकते थे और न उनमें वैयक्तिक सम्पत्ति का भाव ही पैदा हुआ था। परन्तु जब कालान्तर में वे कृषि करने लगे तो उसके साथ ही साथ विवाह, परिवार और ग्राम का विकास हुआ और सम्पत्ति की भावना का भी विकास होने लगा।

कृषि-व्यवसाय को अपना कर मनुष्यों ने अपनी जीविका के प्रश्न को हल किया। इस व्यवसाय ने गृह-निर्माण को प्रोत्साहन दिया। मानव ने विज्ञान-कला में उन्नति की और उससे कृषि में भी उन्नति हुई। इस प्रकार शनैः-शनैः मनुष्यों में श्रम-विभाजन होने लगा। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्यों में अनेक वर्ग खड़े हो गये। विविध उद्योगों तथा व्यवसायों में संलग्न व्यक्तियों ने अपने-अपने वर्ग बना लिये।

समाज में समानता और वर्ग-हीनता के स्थान पर अनेक वर्ग स्थापित हो गये। अध्यापक-शिक्षक, आचार्य-पुरोहित, सैनिक और वाणिज्य-व्यवसायी आदि वर्ग बन गये। उनमें पहले जैसी सहयोग की भावना भी नहीं रही।

किसान अपनी भूमि को जोत-बो कर जो कुछ पैदा करते थे, उस पर उनका ही नियन्त्रण रहता था। उपज एक प्रकार से उनकी निजी सम्पत्ति बन गयी। जो पुरुष धनी तथा बलवान् थे, उन्होंने दुर्बल पुरुषों और व्यक्तियों पर अपना आधिपत्य जमाना शुरू कर दिया। इस प्रकार दास-प्रथा आरम्भ हो गयी। प्राचीन काल में संसार के प्रत्येक देश में दास-प्रथा थी। भारत में भी दास-प्रथा बहुत काल तक प्रचलित रही।

सामन्तशाही का प्रादुर्भाव

जब कृषि-व्यवसाय तथा उद्योगों में विकास होने लगा, तो इससे दास-प्रथा पर भी प्रभाव पड़ा। इस प्रकार सामन्तशाही का जन्म हुआ। कृषि-भूमि पर सामन्तों का एकाधिकार हो गया। किसान उन्हें अपना स्वामी मानते थे और वे उनसे भूमि प्राप्त कर उस पर खेती करते थे। प्रारंभिक दशा में दासता का अर्थ यह था कि स्वामी दास के शरीर तथा आत्मा पर अपना अधिकार रखता था। परन्तु सामन्तशाही युग में दास का स्थान कृषक-दास ने ले लिया। इस प्रकार कृषक-दास अपने स्वामी की भूमि पर खेती करने लगे। परन्तु कृषक और भूमि पर सामन्त का ही स्वाम्य था। इस युग में समाज में सामन्त और कृषक-दास, ये दो वर्ग स्थापित हो चुके थे। सामन्तशाही की तीन प्रमुख विशेषताएँ थीं:—

(१) सामन्तशाही की व्यवस्था के अन्तर्गत यह आवश्यक नहीं था कि कृषक-दास एक ही

सामन्त के प्रति वफादार रहे। उसे एक से अधिक सामन्तों के अधीन रहना पड़ता था।

(२) सामन्त प्रायः धार्मिक व्यक्ति ही होते थे, जिनका 'चर्च' से सम्बन्ध होता था।

(३) सामन्तशाही में किसी व्यक्ति का सम्पत्ति पर निरपेक्ष स्वाम्य नहीं था।

सिद्धान्ततः भूमि पर किसी का स्वाम्य नहीं था। कुछ नियत कार्यों तथा सेवा के पुरस्कार में भूमि पर व्यक्तियों को अधिकार दे दिया जाता था और जो व्यक्ति इन नियत कार्यों को करने में अशक्त रहते थे उन्हें भूमि के अधिकार से वंचित कर दिया जाता था। इन सामन्तों (Feudal Lords) का पालन-पोषण कृषक-दासों के श्रम पर निर्भर था। ये कृषक-दास (Serf) इनकी भूमि पर खेती करते थे और उससे जो उपज होती थी उसका एक नियत भाग अपने स्वामी को दे कर शेष का स्वयं भोग करते थे। उस समय कृषि-प्रणाली में वन का उपयोग नहीं किया जाता था।

नगरों का निर्माण

कृषि की उन्नति के साथ-साथ विविध उद्योगों का भी विकास हुआ और औद्योगिक विकास ने नगरों को जन्म दिया। नगर छोटे और बड़े, दोनों प्रकार के होते थे। नगरों की वृद्धि और विकास का पूरा श्रेय व्यापार-वाणिज्य को है। इन नगरों का नियंत्रण व्यापारिक संघों (Trade Guilds) के हाथ में था। व्यापार के विकास के कारण मुद्रा तथा विनिमय (Currency and Exchange) का प्रचलन होने लगा। मध्यकालीन व्यापारिक संघ वास्तव में सहकारी समितियाँ थीं, जिन पर धर्म का रंग चढ़ा हुआ था। व्यापारियों ने इन संघों की स्थापना पारस्परिक सहयोग और सहायता के लिए की थी।

इन व्यापारिक संघों के संबंध में दो बातों पर विशेषतः विचार करने की आवश्यकता है। संघ के सदस्यों में समानता का व्यवहार था। इस प्रकार व्यापारी प्रतिस्पर्धा के दोष से मुक्त रहते थे। दूसरे यह कि इन संघों का उद्देश्य केवल आर्थिक ही नहीं था।

सामन्त शाही के युग में उत्पादन गृह-शिल्प द्वारा ही होता था। जो व्यक्ति उत्पादन करता था, वही उसकी बिक्री की भी व्यवस्था करता था। इन गृह-शिल्पों का संचालन परिवार के सब व्यक्ति मिल कर करते थे और जो व्यक्ति उनके यहाँ काम सीखने आते थे, वे भी यही काम करते थे। जब माँग अधिक बढ़ने लगी, तब कुछ गृह-शिल्प-स्वामियों ने अधिक उत्पादन तथा शिल्प में उन्नति करने के उद्देश्य से लोगों को मजदूरी पर काम करने के लिए रखना शुरु कर दिया। इस प्रकार प्रतियोगिता बढ़ने लगी। इसका प्रतिफल यह हुआ कि मालिक अपने यहाँ मजदूर रख कर अधिक उत्पादन करने लगे।

औद्योगिक क्रान्ति

उद्योगवाद को अधिक उत्तेजन देने के हेतु यांत्रिक आविष्कार किये गये। ऐसे यंत्र और मशीनें तैयार की गयीं जिनके द्वारा अल्प-समय में अधिकतम उत्पादन हो। विज्ञान और आविष्कारों से उद्योगीकरण में बड़ी सहायता मिली। अब गृह-शिल्पों के स्थान पर बड़े-बड़े कल-कारखाने खड़े हो गये। इंग्लैंड ने इस ओर सबसे पहले ध्यान दिया। सन् १७५० से सन् १८५० तक की एक शताब्दी में इंग्लैंड के उद्योग-व्यवसायों ने आश्चर्यजनक उन्नति की। यह युग इतिहास में 'औद्योगिक क्रान्ति' के नाम से प्रसिद्ध है।

रूस के अराजकतावादी लेखक क्रोपाटकिन ने अपनी पुस्तक में लिखा है—

"नेपोलियन के युद्धों के बाद ब्रिटेन ने फ्रान्स के

उन मुख्य उद्योग-धंधों को नष्ट कर दिया था, जो वहाँ पहले से कायम थे। वह समुद्र का स्वामी बन गया था और यूरोप में उसका कोई बड़ा प्रतिद्वन्द्वी नहीं रह गया था। उसने इस स्थिति से लाभ उठाया और उद्योगों पर एकाधिकार जमा लिया। जिस माल को केवल अकेला वही तैयार कर सकता था, उसका मनमाना मूल्य रखा। पड़ोसी देशों से खूब धन इकट्ठा किया और वह अत्यन्त समृद्धिशाली बन गया।" (Prince Kropatokin: Conquest Of Bread P. 231-232)

इंग्लैंड में उद्योग-धंधों के विकास से यूरोप के जर्मनी, फ्रान्स, आदि देशों में भी औद्योगिक उन्नति को प्रोत्साहन मिला। जर्मनी ने थोड़े ही समय में इंग्लैंड से भी अधिक उन्नति कर ली। जब सन् १८६१ में रूस में कृषक-दासता को उठा दिया गया, तब वहाँ एक भी कारखाना नहीं था। रूस को जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती थी, वे सब पश्चिमी यूरोप - जर्मनी, इंग्लैंड आदि-से ही आती थीं, परन्तु सन् १८८१ में रूस में ८५,००० कारखाने खुल गये और रूस के तैयार माल का मूल्य चौगना हो गया।

इसके बाद इटली, चीन, अमेरिका आदि देशों में उद्योगीकरण हुआ और इसके फलस्वरूप पूँजीवाद का विकास हुआ।

पूँजीवाद

संसार में विश्व-व्यापक दरिद्रता, बेकारी और शोषण का मुख्य कारण यह है कि उत्पादन, विनिमय और वितरण के समस्त साधनों पर जनता का अधिकार नहीं है। उत्पादन के साधन हैं—भूमि, कल-कारखाने, खानें, जल-शक्ति, जंगल, नदी; विनिमय के साधन हैं बैंक; यातायात के साधन हैं—मोटर, बस, डाक, रेल, तार, हवाई जहाज़; वितरण के साधन हैं—व्यापार-वाणिज्य तथा बाजार। इन पर समाज के मुट्ठी-भर लोगों का ही अधिकार है, यद्यपि समूचा समाज उत्पादन में भाग लेता है। उत्पादन के तीन प्रमुख साधन हैं—भूमि, श्रम और पूँजी, और इन तीनों पर समाज के थोड़े-से व्यक्तियों का अधिकार है। इससे जो आय होती है, उसे लगान या भाड़ा, मजदूरी अथवा वेतन और मुनाफा कहते हैं। श्रम अथवा मानव-शक्ति पर भी श्रमजीवी का अधिकार नहीं रहा। यह मानते हैं कि श्रमजीवी हड़ताल करके यह सिद्ध कर देते हैं कि श्रम पर उनका अधिकार है। परन्तु ऐसी मान्यता भ्रममूलक है। पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमजीवी को अपने श्रम का स्वतंत्र रीति से सौदा करने का भी अधिकार नहीं है। उसे उस मजदूरी पर अपने श्रम को मिल-मालिक को बेच देने के लिए बाध्य हो जाना पड़ता है, जिसे वह मनमाने ढंग पर नियत कर देता है। प्रत्येक मालिक यह चाहता है कि वह कम से कम मजदूरी दे कर उससे अधिक से अधिक काम ले।

भूमि-व्यवस्था

संसार के अधिकांश देशों में भूमि-व्यवस्था ऐसे ढंग से की गयी है कि जिससे अधिक जनता का थोड़े-से लोगों द्वारा आर्थिक शोषण होता है। हमारे देश में अंगरेजी राज्य की स्थापना से पूर्व भूमि पर सम्पूर्ण ग्राम की जनता का अधिकार होता था। ग्राम के सब लोग मिल कर खेती करते थे और उससे जो उपज होती, उसे मिल कर परस्पर बाँट लेते थे। इस प्रकार वे सहयोग द्वारा स्वतंत्रता से अपना जीवन बिताते थे।

परन्तु अंग्रेजी राज्य में ग्राम-संस्था का विनाश कर दिया गया और पंचायती राज्य के स्थान पर जमींदारी प्रथा की प्रतिष्ठा की गयी। जमींदार अंगरेज शासकों के भक्त बन गये। संकट-काल में उन्होंने अंगरेजों की सहायता की और पुरस्कार में उन्हें भूमियाँ दी गयीं। उन पर उनका अधिकार स्थापित हो गया। इस प्रकार जमींदारी प्रथा का अध्ययन किया जाए, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि

जमींदार अंगरेजों ने अपने लाभ के लिए बनाये थे और इसके बदले में उन्हें भूमि पर अधिकार दिया।

बंगाल सरकार ने सन् १९४० में मालगुजारी कमीशन नियुक्त किया, जिसने बंगाल प्रान्त में प्रचलित भूमि-प्रणाली की जाँच करने के बाद अपनी रिपोर्ट में यह सिफारिश की कि जमींदारी प्रणाली का अन्त कर दिया जाए। इस रिपोर्ट में जमींदारी-प्रणाली के अनेक दोष बताये गये हैं और उसे समाज तथा राज्य दोनों के लिए हानिप्रद सिद्ध किया गया है। सन् १९४३ में बंगाल के दुर्भिक्ष की जाच के लिए एक कमीशन नियुक्त किया गया था। इस कमीशन ने भी भारत के प्रान्तों की सरकारों से इस संबंध में मत-संग्रह किया। इससे भी यही प्रकट होता है कि भारत के सभी प्रान्त जमींदारी प्रथा को उठा देने के पक्ष में हैं।

सन् १९४६ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी अपने चुनाव घोषणा-पत्र में जमींदारी-प्रथा को उठा देने का निश्चय किया था। जमींदारी प्रथा का अन्त उसके कार्यक्रम का मुख्य अंग बन गया है। किन्तु जमींदारी-प्रथा के नाश से ही किसानों का कल्याण नहीं हो सकता। जब तक किसानों को भूमि पर स्वाम्य प्राप्त न हो जाए, तब तक उनकी दरिद्रता का अन्त नहीं होगा।

पूँजी

उत्पादन का दूसरा महान् साधन है– पूँजी। पूँजी का साधारण अर्थ है धन। परन्तु पूँजी से तात्पर्य केवल धन से ही नहीं है। पूंजीवाद को समझने के लिए पूँजी की व्याख्या कुछ विस्तार के साथ करनी होगी।

पूँजी उस वस्तु का नाम है, जिसके द्वारा कोई व्यक्ति धनोत्पादन करता है। इस प्रकार व्यापक अर्थ में पूँजी के अन्तर्गत रुपया-पैसा, धन-धान्य, सम्पत्ति-आभूषण, कल-कारखाने, व यंत्र, मशीनें आदि आते हैं। एक मनुष्य के पास १०० मन गेहूं भंडार में जमा है। यदि वह इस गेहूँ को अपने निजी प्रयोग के लिए जमा रखता है, तो उसे उसकी पूँजी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह ऐसी दशा में इससे धन पैदा नहीं करता। परन्तु यदि उसने यह भण्डार वाणिज्य के लिए रख छोड़ा है, तो यह पूँजी हो गयी। यदि कोई व्यक्ति धन को बैंक में जमा कर देता है और उसे किसी व्यापार-व्यवसाय में नहीं लगाता, तो उसे पूँजी नहीं कह सकते। किसी व्यक्ति के पास सुवर्ण के आभूषण हैं, उन्हें जब तक शरीर पर शोभा बडाने के लिए धारण किया जाता है, वे पूँजी नहीं। परन्तु किसी व्यापार में उन्हें लगाना चाहें तो वे पूँजी का रूप धारण कर लेंगे। यदि कोई व्यक्ति व्याज पर रुपये उधार दे देता है, तो उसकी वह रकम पूँजी हो जाती है। इस प्रकार जो सम्पत्ति धन को पैदा करती है, वह पूँजी कहलाती है। ऐसी सम्पत्ति को प्रजनन सम्पत्ति (Functional Wealth) कहते हैं और जो व्यक्ति उसे किसी व्यवसाय-व्यापार में लगाता है, उसे पूँजीपति (Capitalist) कहते हैं।

व्यापार में जिस वस्तु का आदान-प्रदान होता है, उसे पण्य (Commodity) कहते हैं। पण्य की तीन विशेषताएँ हैं :–

(१) वह मनुष्य की किसी आवश्यकता की पूर्ति करता है।

(२) वह मानव के श्रम से तैयार किया जाता है।

(३) उसका तैयार करने वाला स्वयं उसका उपभोग न करके उसका विनिमय करता है।

एक किसान ने अपने परिश्रम से १००० मन गेहूँ या तिलहन पैदा किया। वह उसके अर्ध-भाग को अपने निजी प्रयोग के लिए रख कर शेष को बेच डालता है, तो उसे पण्य कहा जाएगा।

इस प्रकार जो पण्य किसी दूसरे को दिया जाता है और उसके बदले में जो धन उसे प्राप्त होता है उसे अर्घ (Value) कहते हैं। प्रत्येक पण्य के दो अर्घ होते हैं। एक भोग्यार्घ (Utility Value) और दूसरा विनिमयार्घ (Exchange Value) कुछ पण्य ऐसे होते हैं कि जिनका भोग्यार्घ अधिक होता है। दूध, घी, मक्खन, गेहूँ, फल-मेवा आदि का भोग्यार्घ अधिक होता है। मानव-जीवन में इनकी उपयोगिता अधिक होती है। परन्तु व्यापार-क्षेत्र में पण्य के भोग्यार्घ पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता, जितना कि उसके विनिमयार्घ पर। विनिमयार्घ से प्रयोजन यह है कि किसी समय-विशेष में पण्य के विनिमय के आधार पर उसका अर्घ स्थिर हो। अतः विनिमयार्घ परिवर्तनशील होता है और उसके परिवर्तन का व्यापार-वाणिज्य पर प्रभाव पड़ता है।

प्राचीन समय में, पूँजीवाद के जन्म से पूर्व, प्रायः गेहूँ के बदले में किसान ग्राम के बजाज से या जुलाहे से कपड़ा, सुनार से शाक-सब्जी और चमार से जूते खरीद लेता था। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था में वस्तुओं के खरीदने के लिए धन आवश्यक हो गया। यदि किसी के पास २ सेर गेहूँ हैं, तो यह १ सेर चीनी, ३॥ छटाँक घी, १। सेर दूध और एक गज पापलिन कपड़े के बराबर हैं। अतः २ सेर गेहूँ का विनिमयार्घ १ सेर चावल, ३॥ छटाँक घी, १। सेर दूध और १ गज कपड़े के बराबर हुआ।

वस्तु का मूल्य केवल उसकी उपयोगिता के आधार पर ही स्थिर नहीं होता। वस्तु का मूल्य सामाजिक आवश्यकता, श्रम, तथा माँग के आधार पर स्थिर होता है।

पूँजीपति

अब हमें यह विचार करना है कि पूँजीपति कैसे बनते हैं। पूँजीपति बनने के लिए सब से सरल उपाय यह है कि पूँजी को किसी उद्योग या व्यवसाय में लगा दिया जाए। किसी व्यक्ति के पिता-पितामह ५ लाख की सम्पत्ति अपने पुत्र-पौत्र के लिए मरते समय छोड़ गये। अब यदि वह व्यवसायी बुद्धि का नहीं है, तो अपने स्त्री-बालक आदि के लिए सुन्दर वस्त्राभूषणों के संग्रह करने में उस रक़म को व्यय कर डालेगा। यदि उसे 'घुड़दौड़', शराब अथवा वेश्यागमन का रोग लग गया, तो कुछ ही दिनों में वह भिखारी बन जाएगा।

परन्तु उसमें तनिक भी व्यवसायी बुद्धि होगी तो वह ४ लाख रुपये लगा कर कोई कारखाना या फर्म खोल कर और कुछ मजदूरों के परिश्रम तथा डायरेक्टर या मैनेजर की बुद्धि से लाभ उठा कर १ वर्ष में १ लाख रुपये आसानी से प्राप्त कर लेगा। यह उसका मुनाफा हुआ। इस मुनाफे से उसे और भी उत्साह मिलेगा। अब वह अपने कारखाने में और भी वृद्धि अथवा विस्तार करना चाहेगा। प्रतियोगिता से सुरक्षित करने के लिए वह उसे कंपनी का रूप देना चाहेगा। १०–१५ लखपति मिल कर उसे बड़े व्यवसाय का रूप देंगे। उनका प्रयत्न यह होगा कि मजदूरों से १०–१२ घंटे काम लिया जाए। औद्योगिक निरीक्षक मिल का निरीक्षण करने आए तो उसे भी कुछ भेंट दे दी जाए। रविवार को अवकाश में भी मिल में काम जारी रखा जाए।

कंपनी के संचालक यह चाहेंगे कि थोड़ी पूँजी से अधिक माल तैयार हो और मजदूरी भी कम देनी पड़े, जिससे दूसरे व्यवसायियों के मुकाबले में माल सस्ता बिक सके। इस प्रकार पूँजीपति समाज के हित-कल्याण की बात को भूल कर अधिक धन पैदा करने पर ही ध्यान देते हैं।

समाज में ऐसे पूँजीपतियों का प्रभुत्व रहता है। इसी वर्ग में से अधिकांश उच्च सरकारी अफसर होते हैं। इस प्रकार उनके सम्पर्क तथा सहयोग से पूँजीपति राज-प्रबंध पर भी अपना प्रभाव डालते हैं।

प्रतिनिधि-संस्थाओं, चुंगी, जिला बोर्ड से लेकर धारा-सभाओं के चुनावों में पूँजीपतिओं का ही आधिपत्य रहता है। वे चुनावों में अपना धन पानी की तरह बहाते हैं और चुनावों में सफलता प्राप्त करने के बाद उचितानुचित उपायों द्वारा धन - संचय करते हैं।

श्रम-शक्ति और पारिश्रमिक

पूँजीवादी समाज में मजदूर-वर्ग सम्पत्ति-हीन है। पूँजीपतियों का ही समाज के उत्पादन के समस्त साधनों पर एकाधिपत्य है। यदि उनके पास अपनी कोई वस्तु है, तो वह है श्रम-शक्ति।

परन्तु पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूरों को अपनी श्रम-शक्ति पर भी अधिकार नहीं है। मजदूर अपने श्रम का मूल्य स्वतंत्र रीति से निश्चय नहीं कर सकते। इस कार्य में भी उन्हें पूँजीपतियों की कृपा पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

मजदूरों की अवस्था वास्तव में मध्ययुगीन दासों अथवा कृषक-दासों से किसी प्रकार भी अच्छी नहीं है। पूँजीपति अपनी इच्छानुसार ही मजदूर को काम देते हैं; मजदूरी की दर भी वे ही तै करते हैं। अनेक देशों में अभी तक उचित मजदूरी के नियत करने के संबंध में कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। मजदूर दिन-रात परिश्रम करते हैं; परन्तु उन्हें उस परिश्रम का इतना मूल्य भी नहीं मिलता, जिससे वे अपना, अपने स्त्री-बच्चों का ठीक प्रकार से भरण-पोषण भी कर सकें। पूँजीपतियों को उद्योगधंधों से करोड़ों रुपयों का लाभ होता है, परन्तु जब मजदूरों की मजदूरी में दो पैसे की वृद्धि करने का सवाल खड़ा होता है, तब बड़े मानवतावादी और धर्म-प्राण पूँजीपति भी अपनी मिल बन्द कर देना पसंद करेंगे; परन्तु मजदूरी में दो पैसे की वृद्धि करने को तैयार नहीं होंगे।

कीर हार्डी नामक एक लेखक ने लिखा है कि पूँजीवाद के युग में लोग इस बात का अनुभव कर रहे हैं कि उन्होंने एक प्रकार की दासता से मुक्ति पा कर अब दूसरी दासता को स्वीकार कर लिया है। और उदर-पूर्ति की समस्या प्राचीन दासों की अपेक्षा अधिक दुःखप्रद बन गयी है।

यही नहीं, मजदूर का कार्य भी अत्यन्त नीरस और निरानन्द होता है। अधिक श्रम करने तथा उचित मात्रा में भोजन न मिलने के कारण उसकी कार्य-क्षमता भी शीघ्र नष्ट हो जाती है। उनके द्वारा जो वस्तु तैयार की जाती है, उस पर उनकी कारीगरी की छाप नहीं होती। उनके सामने तो मुख्य प्रश्न यही होता है कि अधिक उत्पादन किया जाए। एक ही कार्य प्रतिदिन करते-करते मजदूर स्वयं भी यंत्रवत् हो जाता है। उसे अपनी बुद्धि और मस्तिष्क के प्रयोग की आवश्यकता कम ही पड़ती है।

इस प्रकार उनके मानसिक विकास में बाधा पड़ने के साथ-साथ स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। कार्ल मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'पूँजी' में एक स्थान पर लिखा है कि मिलों तथा कारखानों और खानों आदि में कृत्रिम उच्च तापमान, धूल-भरा वातावरण, तथा कर्णवेधी शब्द प्रत्येक इन्द्रिय को हानि पहुँचाते हैं। वे स्थान, प्रकाश, वायु और स्वास्थ्य-रक्षा के साधनों से मजदूरों को वंचित कर देते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ तथा राष्ट्रीय सरकारें अपने-अपने देश में मजदूरों की अवस्था में सुधार के लिए कानून आदि बना कर प्रयत्न करते हैं। परन्तु कानूनों के प्रयोग में अनेक त्रुटियाँ हो जाती हैं, जिनके कारण, वास्तव में, मजदूरों का सच्चा सुधार नहीं होता।

पूंजीवाद की विशेषताएँ

पूँजीवाद की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं, जो उसकी हरेक अवस्था में विद्यमान रहती हैं। यह तो सत्य ही है कि यह जगत् परिवर्तनशील है और

मुनाफ़े के उद्देश्य से किया जाता है। पूँजीपति कोई मिल या कारखाना इसलिए नहीं खोलता कि जनता के पास पर्याप्त वस्त्र नहीं है, अथवा मकान आदि के निर्माण के लिए लोहा तथा इस्पात नहीं है; प्रत्युत मिल या कारखाना खोलने में उसका उद्देश्य यही होता है कि माल की बिक्री अधिक से अधिक हो, जिससे पूँजी में वृद्धि हो सके। यदि मिल-मालिक को मुनाफा नहीं होगा, तो उसका कारोबार ही नष्ट हो जाएगा।

प्राचीन-काल में यह बात नहीं थी। उस समय मुख्य उद्योग कृषि थी। कृषक मुनाफे के लिए खेती नहीं करते थे। उनका मुख्य उद्देश्य ग्रामवासियों की आवश्यकता को पूरा करना था। अन्य कारीगर यदि कोई वस्तु तैयार करते थे, तो वे उसके परिवर्तन में अन्य वस्तु ले लिया करते थे। इसलिए मुनाफा-खोरी का कोई सवाल ही नहीं था।

(५) पूंजीवाद में संकट

पूँजीवादी अर्थ-नीति में समय–समय पर संकट आते रहते हैं। दूसरे प्रकार की सामाजिक व्यवस्था में ऐसे संकट कम ही आते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में जो संकट उपस्थित होते हैं, उनका प्राकृतिक उत्पातों से कोई संबंध नहीं; जैसे दुष्काल, अनावृष्टि महामारी, तूफान, बाढ़ इत्यादि। पूंजीवादी संकटों का मनुष्यों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं से भी संबंध नहीं है।

सन् १९२९ में संसार-व्यापी मन्दी और तज्जनित गरीबी, बेकारी आदि पूँजीवाद का एक महान् संकट था।

(६) अर्थनीति का बाजार द्वारा नियमन

पूँजीवादी अर्थनीति में उत्पादन का नियम राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार द्वारा ही होता है। कोई व्यक्ति-विशेष या व्यक्तियों का समूह ज्ञानपूर्वक समस्त उत्पादन का नियमन नहीं करता। यह कार्य मानव की इच्छा से स्वतंत्र बाजार करता है।

यह ठीक है कि पूँजीवाद के विकास की एक व्यवस्था ऐसी भी है, जिसमें पूंजीवादी एकाधिपत्य तथा राज्य द्वारा हस्तक्षेप से उत्पादन पर नियंत्रण प्राप्त किया जाता है परन्तु यह नियंत्रण उत्पादन के एक सीमित भाग पर ही होता है। समस्त उत्पादन प्रक्रिया पर उसका प्रभाव नहीं होता।

(७) सम्पत्तिशाली और श्रमजीवी वर्ग

पूँजीवादी व्यवस्था में दो वर्ग आर्थिक आधार पर खड़े हो जाते हैं। एक वर्ग में वे सब व्यक्ति होते हैं, जिनका उत्पादन के साधनों (कल-कारखाने, खानें, भूमि, रेल, रोड, मशीन) पर अधिकार होता है और जो दूसरों के परिश्रम से इन साधनों का प्रयोग कर वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। इस वर्ग को सम्पत्तिजीवी कहते हैं। दूसरे वर्ग को श्रमजीवी कहते हैं। ये श्रमजीवी अपने मालिक के लिए काम करते है। इस काम के लिए स्वामी उन्हें मजदूरी देते हैं। परन्तु उनके द्वारा प्रस्तुत उत्पादन पर मजदूरों का कोई अधिकार नहीं होता।

प्रतियोगिता और उसके दोष

पूँजीवाद का सबसे बडा दोष यह है कि पूँजीवादी अर्थ-नीति प्रतियोगिता को प्रोत्साहन देती है। प्रत्येक पूँजीपति यही चाहता है कि बाजार में उसका माल अधिक से अधिक बिके। सर्वाधिक माल उसी समय बिक सकता है जब कि वह दूसरे उद्योग-पतियों के मुकाबले में सस्ते दामों में बेचा जाए और सस्ते दामों पर माल उसी समय बिक सकता है जब कि माल अधिक सस्ता तैयार किया जाए। यह एक साधारण नियम है कि जब माल अधिक परिमाण में पैदा किया जाता है, तब वह सस्ता पैदा होता है। उत्तम और सस्ता माल तैयार करने के लिए श्रेष्ठतम मशीनें, अच्छा कच्चा माल और उत्पादन में वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग तथा मजदूरों से अधिक से अधिक काम ले कर कम वेतन देना तथा मिलावट आदि साधन हैं,

जिनके द्वारा उद्योगपति अधिक उत्पादन की प्रतिस्पर्द्धा में सफल होते हैं। जब प्रायः सभी उद्योगपति इसी नीति से काम करने लगते हैं, तो उसका परिणाम होता है आवश्यकता से अधिक माल का तैयार हो जाना।

उद्योगपति प्रतिस्पर्द्धा के कारण माल का मूल्य कम करते चले जाते हैं और अन्त में वह समय आता है कि माल का मूल्य इतना गिर जाता है कि उस कीमत पर बेचने में हानि उठानी पड़ती है। इस कारण उद्योगपति उस माल को गोदामों में भर लेते हैं। इस स्थिति की प्रतिक्रिया उत्पादन पर भी होती है।

जब माल गोदामों में भरा हुआ है, तब वे अधिक माल पैदा ही क्यों करें! अतः कारखाने बन्द करने पड़ते हैं। फलतः लाखों मजदूर बेकार हो जाते हैं।

जब करोड़ों की संख्या में लोग बेकार हो जाते हैं, तब उनकी क्रयशक्ति भी न्यून हो जाती है और वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी वस्तुएँ नहीं खरीद सकते। इस प्रकार औद्योगिक क्षेत्र में संकट पैदा हो जाता है।

माँग से अधिक उत्पादन के जो दुष्परिणाम होते हैं, उनसे अपनी रक्षा करने के लिए उद्योगपतियों ने यह उपाय सोचा है कि अधिक माल को नष्ट कर दिया जाए। जब वह कम रह जाएगा तो अधिक दामों पर बिक सकेगा। अमेरिका देश में सन् १९३१ से सन् १९३३ तक १,८४५,९२०,००० पौंड कहवा नष्ट कर दी गयी। सन् १९३४ में मूल्य में वृद्धि करने के उद्देश्य से १० लाख मन बैल गेहूँ, २६७,००० बंडल कपास, ६४०,००० [illegible] चीनी नष्ट कर दी गयी। इंग्लैंड में १२८०० एकड़ भूमि के फलों के बाग नष्ट कर दिये गये।

पूँजीवाद के दोष

इस प्रसंग को समाप्त करने के पूर्व हम पूँजीवाद और पूँजीवादी व्यवस्था के दोषों पर भी विचार कर लेना चाहते हैं।

१. पूँजीवादी अर्थनीति में माँग से अधिक माल तैयार करने का प्रयत्न किया जाता है। फलतः आर्थिक संकट, गरीबी, बेकारी, मृत्यु, रोग और आत्महत्याओं की वृद्धि होती है।

२. पूँजीवाद व्यक्तिवाद में विश्वास करता है। इस कारण वह उत्पादन के साधनों पर पूरे समाज का अधिकार नहीं मानता। फलतः पूँजीवाद में सम्पत्ति का समान रूप से वितरण नहीं होता।

३. पूँजीवाद समाज की माँग, आवश्यकता एवं हितों की रक्षा अथवा पूर्ति की ओर ध्यान न देकर उत्पादन से अधिक से अधिक मुनाफा प्राप्त करने को ही अपना मुख्य उद्देश्य मानता है।

४. पूँजीवाद व्यापारिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा को जन्म देता है। प्रतिस्पर्धा के कारण आर्थिक संकट पैदा होते हैं।

५. पूँजीपति अपने उत्पादन के विज्ञापन के हेतु समाचारपत्रों का आश्रय लेते हैं। समाचारपत्रों में वे विज्ञापन छपाते हैं, उसके लिए उन्हें काफी धन समाचारपत्रों के विज्ञापन-विभागों को देना पड़ता है। इससे समाचार पत्रों को बड़ी आमदनी होती है। इस आमदनी के प्रलोभन में आकर समाचारपत्र भी उत्पादन-सम्बन्धी नीति की स्वतंत्र आलोचना नहीं कर सकते, अन्यथा उन्हें भविष्य में विज्ञापनों से होने वाली आमदनी से हाथ धोना पड़ेगा। इस प्रकार पूँजीपतियों का समाचारपत्रों पर अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण हो जाता है।

६. पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत जो माल तैयार होता है, वह [illegible], दिखाऊ और मनमाने-

पयोगी नहीं होता। प्रतियोगिता के कारण पूँजीपति आकर्षक, सस्ता व कम टिकाऊ माल तैयार करते हैं।

७. पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मुख्य ध्येय मुनाफा होता है। इसलिए जनता की उपयोगिता पर ध्यान नहीं दिया जाता। वस्तुओं में मिलावट भी अधिक की जाती है।

८. पूँजीवाद गृह-उद्योगों के विकास में भी बाधक है, सहायक नहीं। पूँजीपति यह नहीं चाहते कि गृह-शिल्प कोई ऐसा माल तैयार करे जो मिल के माल से सस्ता और अच्छा हो। जब तक गृह-उद्योग अधिक महँगा माल तैयार करते रहे, तब तक पूँजीपतियों को इसकी चिन्ता नहीं। लेकिन जैसे ही गृह-शिल्प सस्ता और अच्छा माल तैयार करने लगे, तो मिल-मालिकों को एक बड़े शत्रु से मुकाबला, करना पड़ेगा।

९. पूँजीवाद अनुत्पादक व्यवसायों को जन्म देता है। उनसे समाज को लाभ के स्थान में हानि ही उठानी पड़ती है। वकालत, महाजनी, दलाली, कमीशन, एजेंसी आदि ऐसे ही व्यवसाय हैं।

१०. पूँजीवाद समाज में विषमता पैदा करता है और आर्थिक आधार पर समाज का विभाजन कर देता है। इस प्रकार वह समाज की एकता, संघटन और सहयोग को नष्ट कर देता है।

११. पूँजीवाद में श्रमजीवियों का आर्थिक शोषण होता है। उन्हें अपने परिश्रम का समुचित मूल्य नहीं मिलता।

१२. पूँजीवाद में आत्म-विनाश के बीज विद्यमान हैं। ब्रिटेन में पूँजीवाद के कारण ही भारत पर उसका आर्थिक और राजनीतिक आधिपत्य १५० वर्षों से भी अधिक समय तक रहा। इस ब्रिटिश पूँजीवाद की चरमावस्था ब्रिटिश साम्राज्यवाद में हुई। और आज यह ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपनी अन्तिम साँस ले रहा है। भारत, ब्रह्मदेश, लंका आदि से ब्रिटिश प्रभुत्व अथवा साम्राज्यवाद मिट रहा है।

१३. पूँजीवादी व्यवस्था संसार में अन्तर्राष्ट्रीयता एवं विश्व-बंधुत्व की स्थापना में बाधक है। युद्ध के लिए अस्त्र-शस्त्र तैयार करने वाले कारखाने बड़े-बड़े पूंजीपतियों के हाथों में हैं। इन कंपनियों को सबसे अधिक मुनाफा युद्ध-काल में ही होता है।

१४. पूँजीवाद की अन्तिम अवस्था है आर्थिक साम्राज्यवाद और आर्थिक साम्राज्यवाद संसार की शान्ति एवं प्रगति के लिए ही नहीं, राष्ट्रीय-स्वाधीनता के लिए भी महान् खतरा है।

दक्षिण के गीत

तेलुगू

कविवर सारंगपाणि

कविवर सारङ्गपाणि तेलुगू गीतिकारों में काफी प्रसिद्धि पा चुके हैं। इनके गीत जन-जीवन के स्वच्छ दर्पण से लगते हैं, जिनमें आन्ध्र-जाति आज से सार्ध-शताब्दी पूर्व का अपना प्राञ्जल रूप निहार कर निहाल हो सकती है। ये दक्षिणान्ध्र की एक छोटी रियासत कार्वेटिनगर के शासक साकराज के सम-सामयिक माने जाते हैं। यही साकराज श्री सारङ्गपाणि के आश्रयदाता रहे थे, जिन्हें नायक बना कर इन्होंने कई श्रृंगार-पूर्ण पद रचे थे। लौकिक श्रृंगार के अतिरिक्त इनकी रचनाओं में देव-विषयक रति, लोक-जीवन तथा विनय से सराबोर आत्म-दैन्य-प्रदर्शन के भाव भी विद्यमान हैं। ठेठ तेलुगूपन की मिठास इन रचनाओं का प्राण है। कुछेक पद अपढ़ देहातियों की बोली में भी मिलते हैं, जिनमें चित्तूर जिले के त्योहारों, आचार-विचारों और कहावत-मुहाविरों का सफल प्रतिपादन है। इन गीतों का प्रचार नेल्लूर तथा चित्तूर जिलों में अधिकता से पाया जाता है। साहित्य एवं भाषा-विषयक मान्यताओं को दृष्टि में रख कर विचार करने पर इनका परिगणन उत्तम-काव्य के अंतर्गत किया जा सकता है। आन्ध्र-साहित्य के विद्यापति श्री क्षेत्रय्या के बाद तेलुगू गीत-साहित्य में सारङ्गपाणि का नाम आदर के साथ लिया जाता है। ये भगवान् 'वेणुगोपाल' के बड़े भक्त थे। अतएव इनके गीत 'वेणुगोपाल-पद' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। अब कुछ नमूने लीजिए ;

(१) नी दिव्य-मंगल-मूर्त्ति ध्यानमु भक्ति
नित्यमु कृप सेयवे !

वेदोद्धार कुडैन वेणुगोपाल नी पाद-
द्वंद्वमु ना हृत्पद्ममुनंदुन जेर्चि ॥
पुट्टिंदि मोदलुग भूपालकुलगोल्चि
पट्टेडन्नानिकै परुगुलेरि
पोट्टनिंचुक मतिलो पोंगुचुंटिनि गानी
पट्टुग नोकनाडु प्रद्युम्न यननैति ॥ नी०
नरकहेतुवुलैन दुरित कृत्यमुलकु
मरगि कंड्लकावरमुन
परकांतल मोमुलरसि भ्रमसिति गानी
पुरुषोत्तम ! नीपै बुद्धि निलुप नैति ॥
परम भागवतुल प्रह्लदमुल बलिक
गुरुवुल निंदिंचि कुटिलुडनै
अरयक तलिदंडुलाज्ञ मीरिति गानि
स्थिर चित्तमुन हरिनि स्मरण चेयनैति ॥ नी०
अपकारमुलकु ने नग्रगण्युडनै
युपकृतिमाटंटे नुम्रुडगुचु
अपकीर्तुलकु ने नहुंडनैति गानि
कपटवामन ! नीदु कथचेवुल विन नैति ।
यतुल दूषण जेसि येद्दटि मेलोर्वक
कृतुलुमानवुल कर्पितमु चेसि
गतवासरमु लीगति दाटिचिंति गानी
पतितपावन ! सद्गति जूपुमननैति ॥ नी०

अपनी दिव्य-मंगल-मूर्ति का ध्यान और उसकी भक्ति कृपया नित्य प्रदान करो !

हे वेदोद्धारक वेणुगोपाल ! अपने चरण-युगल मेरे हृत्पद्म में स्थापित करो !

जन्म से ले कर भूपालों की सेवा में, मुट्ठी भर अन्न के लिए, दौड़-दौड़ कर, उदर-पोषण करके, मन ही मन फूलता रहा हूँ, किंतु लगन के साथ, एक दिन भी 'हे प्रद्युम्न!' न कह सका!

नरक-हेतु बनने वाले दुष्कृत्यों के पीछे पड़ कर, आँखों में चरबी छा जाने से, पर-नारियों के वदन निहार-निहार कर भ्रम में पड़ा हूँ, किंतु हे पुरुषोत्तम, तुम पर मन केंद्रित न कर सका!

परम-भागवत जनों के प्रति गालियाँ बक कर, गुरुजनों की निंदा करके, पापी बना हूँ।

बिना सोचे-समझे माँ-बाप की आज्ञाओं की अवहेलना की, किंतु स्थिर चित्त के साथ हरि-स्मरण नहीं किया है!

अपकारियों में अग्रणी बन कर, 'उपकार' शब्द के श्रवणमात्र से कुपित हो कर, बदनामियों का ठेका ले बैठा हूँ, किंतु हे कपटवामन! तुम्हारी कथा कानों से नहीं सुनी!

यति-जनों को दूषण दे कर, औरों के सुख से जल कर, अपनी रचनाएँ मनुजों को समर्पित करके, मैंने जीवन के विगत दिन बिताये हैं, किंतु हे पतितपावन! मोक्ष की याचना नहीं कर सका!

(अतः) अपनी दिव्य-मंगल-मूर्ति का ध्यान और उसकी भक्ति कृपया नित्य-प्रति प्रदान करो!

(२) निन्नुनेविड्वानु नी पेरु मरवानु नी बंटु बंटैनानु॥
अन्न! येन्नटिकि प्रसन्नुड वौदुओ
वेन्न त्रुच्चिलि दिन्न वेणुगोपाला!
नलुगुरु बंधुवुलु दलचकयुन्नतु
नरनाथुडलगिनानु
कुलसति मॅंडोड्डु कोनि पलुककुन्नतु
चेलिकांडु बुद्धुल चेरुपवच्चिनानु॥ निन्नु०
पापात्मुडनुचु कृपा रहितुडैनानु
भापिंच कुंडिनन्
कोपगिंचि, लक्ष कोदुवलेंचिनानु
मापुरेपनुचु येमरियूरकुन्नानु॥ निन्नु०
कामक्रोधादुलेव्वड वदलकुन्नानु
स्वामुलु दूरिननू
लेमि वच्चि येोकरु लेक्क सेयकुन्नानु
प्रेम मरचि सुतुलु येमरियुन्नानु॥ निन्नु०

मैं तुम्हें नहीं छोड़ूँगा, तुम्हारा नाम नहीं भूलूँगा; मैं तुम्हारे दासों का क्रीत दास बना हूँ। बंधु! तुम न जाने कब प्रसन्न होओगे, मक्खन चुरा कर खानेवाले, हे वेणुगोपाल! मैं तुम्हें०

चाहे चारों बांधव मेरा नाम तक न लेते हों, चाहे नरपति मुझसे रुष्ट हो जाएँ, भले ही कुल-सती रूठ कर मुझसे बात न करती हो और मेरे साथी मेरी मति भ्रष्ट करने पर तुले हों! मैं तुम्हें०

(मुझे) पापात्मा जान कर (तुम) चाहे निर्दयी बने रहो,

बात करना तक छोड़ दो,

कुपित होकर मेरी लाखों त्रुटियाँ गिन लो,

'आज', 'कल', करते हुए उदासीन बने रहो! मैं तुम्हें०

काम, क्रोध आदि भले ही मेरा पीछा न छोड़ते हों,

गुरुजन मेरी निंदा करते हों,

अभाव के इन दिनों में, चाहे कोई भी मेरी परवाह न करता हो,

सारा प्रेम बिसार कर (मेरे) सुत तक चाहे मेरी उपेक्षा करते हों,

(तो भी) तुम्हें मैं नहीं छोड़ूँगा, तुम्हारा नाम नहीं भूलूँगा॥

(२) भक्षयपात्रकु चेते कलदनि बोक-
भिक्षमु वेयरय्या-मूल
निक्षेपनु त्रवि नेत्तिन वेट्टेरा ?
कुक्षिभरलुं 'वेणुगोपाल' ना स्वामि ॥
तेच्चुकोवले ननि कोंदरु राले
तेवोयिनारंडु कोंदरु-ओट्टि
गच्चुलकैनानु कडकु वोयिनाननि
मुच्चुवलेने तलुपु मूलकु नोरिगेरु ॥
लेव पालुनालि कोंदरु-लोन
देवर उंदनि कोंदरु-नडव
दोव कड्डुन योट्टि दोगिलि तुडुचुक
नी वोह्रेनि गिंजलेवि चूपमनेरु ॥

भिक्षा-पात्र ले कर चलो तो एक भी (व्यक्ति) प्रसन्नता-पूर्वक भिक्षा नहीं देता—(ऐसे) उदर-पोषक घर की निधियाँ छोड़ कर कहाँ (भिक्षुकों के) सिर पर रखेंगे ? हे मेरे प्रभु ! वेणुगोपाल !

कुछ लोग बहाना करते हैं—'चावल मँगाना है।'

कुछ कहते हैं—'लाने गये हैं, अभी लौटे नहीं।'

कुछ स्त्रियाँ झूटमूट ही अपने को ऋतुमती कहती हैं, चोरों की भाँति किवाड़ की ओट हो जाती हैं।

कुछ (आलसी) उठ कर भीख देना भारी काम समझते हैं। (अतः इन्कार करते हैं।)

कुछ कहते हैं — 'भीतर देवता है।' (अतः भीतर जाने की मनाई है।)

कुछ तो (भिक्षुकों की) राह रोक कर, खाली मुट्ठी बाँध कर पूछते हैं — 'भला अपनी झोली का भिक्षान्न पहले दिखाओ।' (ऐसे) उदर-पोषक घर की निधियाँ छोड़ कर भिक्षुकों के सिर पर कहाँ धरेंगे, हे वेणुगोपाल ?

—वारणासि राममूर्ति, 'रेणु'

मराठी

श्री शंकर केशव कानेटकर (कवि गिरीश)

रविकिरण-मण्डल के माधव ज्यूलियन्, यशवन्त तथा गिरीश, इन तीन कवियों की रचनाओं से आधुनिक मराठी काव्य-साहित्य बहुत प्रभावित हुआ है और इस दृष्टि से कवि गिरीश का स्थान आधुनिक मराठी काव्य-क्षेत्र तथा साहित्य में बहुत ऊँचा है।

कवि गिरीश का जन्म सातारा जिले के कल्यापुर ग्राम में २८ अक्तूबर १८९३ को हुआ था। मैट्रिक पास करने के बाद उन्हें लगभग १६ वर्षों तक अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा यहाँ तक कि उन्हें अपनी विश्वविद्यालय की शिक्षा भी स्थगित करनी पड़ी। किन्तु शिक्षा प्राप्त करने की दुर्दम्य आंतरिक इच्छा और अनथक प्रयत्नों के कारण अन्त में वे एम्. ए. की उपाधि प्राप्त करने में सफल हुए।

१९३० में एम्. ए. होने के बाद वे डेक्कन एज्युकेशन सोसाइटी के फलटन स्थित हाईस्कूल के मुख्याध्यापक नियुक्त किये गए। उसके बाद फर्ग्युसन कालेज पूना में मराठी के प्रोफेसर के पद पर काम करते रहे और फिर पूना के न्यू इंग्लिश स्कूल के असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट नियुक्त हुए। इस उत्तरदायित्व को सफलता से निभाने के बाद वे सोसाइटी के अहिल्या देवी गर्ल्स हाईस्कूल के प्रधान प्रबंधक चुने गए। इस पद के कार्यभार को भी सफलता से वहन करने के पश्चात् अन्त में उनकी नियुक्ति डेक्कन एज्युकेशन सोसाइटी के सांगली स्थित विलिंग्डन कालेज के मराठी विभाग के प्रधान प्रोफेसर के रूप में की गई।

"अभागा कमल", "कला" तथा "आंबराई", ये तीन खण्ड-काव्य तथा "कांचन गंगा", "फलभार" और "मानससंगीत", ये तीन गीत-संग्रह कवि गिरीश

की ख्याति-प्राप्त प्रकाशित रचनाएँ हैं। ग्रामीण गीत लिखने में भी कवि गिरीश सिद्धहस्त हैं। नीचे उनकी एक रचना उद्धृत की जाती है।

माळावरील शिरीष !
(मुक्त छंद)

(१) निखारे फुलले !
कडकूं लागली फाल्गुनी आग !
रखरखलीं तापून रानें,
वाफा उफावल्या शेतांमधुनी
कढूं लागला मध्यान्हवारा तावतावूनी;
डवऱ्यांत पाणी चटचटलें !
खालीवर सारा डोंब जाहला,
पाखरें लपलीं कुठें छुडुपीं !
भयाण शून्यता !
आणि एकला उभा तूं त्यांत !
निष्पर्ण जीवन !

(२) भोंवतालची अंतरांतली,
आग पिऊनी कंठीसी जीवन !
फांद्यांचे होऊन गेले खराटे,
अस्थिचर्मांचे सांपळे जणूं उरलेत हे,
वाळल्या शेंगा पिवळसर
मात्र लटकुनी भेसुर आवाजें खुळखुळती !
उध्वस्त ध्येयांचीं पिशाचेंच कीं ?

(३) जीवन मिळतें कोठून तुला ?
हिरवीं दाट सुन्दर पानें,
हिरण्या पांढऱ्या मृदुल फुगीर परागांचीं तव
मोहक फुलें,
सुगंध जयांचा घेई ओढुनी अंतर्भावना,
सौंदर्य ज्यांचें उपकारक,
वर्षा हेमंतांनी वाढविलेला तेजस्वीपणा
किती अभिजात !
नवीन वाऱ्यानें दिलेले सूर वितळवूनी—
सुगंधांतून दिला जयांनीं वृद्धयुवकां,
युवकांनीं जी हृदयावरी ठेविली भूषा,
आणि प्रमदांनीं शिरोधार्य नी मस्तकीं धरेलीं,
शिशिरानें ती धुळींत गाडलीं !!
किंवा जाहला हृदयपालट फुलांनीं तुझ्या,
अन्यायें अथवा फिरलों मस्तकें,
त्यांनीं पेटविलें जग म्हणुनी—
त्यांचीं लटकलीं मृत शरीरें फांदी-फांदीवर ?

(४) कुणासाठीं हें चाललें तपन ?
उरागीं कां तूं धरीलीं हीं शवें ?
भोंवतालीचे अन्याय, जुलूम, उपासमारी,
वाम मार्गांनीं संपदेची वा लूट होऊन,
धरणी पडली असहाय ही,
आणि पाहून हृदय तुझें तळमळलें,—
भाजून निघालें तडफडून,
उपाय हरले म्हणून होऊन विरक्त तुवां हा
संन्यास घेतला ?

(५) प्रतिकाराची प्रेरणा फसली,
म्हणुन पुन्हा चालविली ही ध्यान धारणा,
त्यागिली पानें, त्यागिलीं फुलें, त्यागिलें जीवन !
मात्र उराशीं हुतात्म्यांचीं हीं धरूणी शवें
भगीरथापरी गंगा आणाया,
नव्या तेजाची नवी संचणी चालविली का
कुऱ्यांतून ही ?

(६) खुळखुळूनी चमकुनी तो हसलीं शवें !
तापलेली येतां झळ नवीन,
विवळून एका फांदी मधून सूर निघाला—
"जीवन घेतों शोषून आंतून,
आणि कुंडलिनी जगविते मला अमृत देऊन,"
अमृत तेंच दिधलें बीजांना,
अमृत तेंच आंत सांठलें,
जातील शवें ही गळून दूर माती होऊनी,
अमृत जीवनें कोंभ येतील नवीन परी,
कोवळीं पानें चमकतील,
आणि त्यावर मोहरेल गोड नवा फुलोरा,
बहरेल त्याच जीवनीं अंग,
हिरण्या, पांढऱ्या, मृदुल फुगीर परागांचीं
मग मोहक फुलें
शांति जीवनार्थ शांत आहुती याया सुगंधी
दाहक होतील

हँच जीवन ! हँच जीवन !!
हँच जीवन !!!

मरुभूमि का शिशिर !

अंगार जल उठे ! फागुन की आग भड़क उठी ! उजाड़ प्रदेश तथा मरुभूमियाँ जल-तप कर धधकने लगीं। खेतों से उष्ण वाष्प उमड़-उमड़ कर निकलने लगी और मध्याह्न-वायु क्रोधित हो कर, क्रुद्ध कर, धू-धू करके जलती हुई, चलने लगी। गड्ढों का पानी सूख गया ! नीचे—ऊपर, चारों ओर हाहाकार मच गया ! पक्षी किसी झुरमुट में छिप गये ! चारों ओर भीषण शून्यता ! और ऐसी भीषण शून्यता में निष्पर्ण जीवन लिये तू अकेला ही खड़ा है ! (१)

तेरे चारों ओर वायुमंडल में जो आग धधक रही है उसे ही पी कर तू अपना जीवन व्यतीत कर रहा है। तेरी टहनियाँ मानों केवल अस्थिचर्म के पिंजड़े बनी हुई हैं और तेरे फल सूख कर पीले पड़ गये हैं; किन्तु भीषण नाद करते हुए वे लटक रहे हैं, मानों वे उद्ध्वस्त ध्येयों के पिशाच हों ! (२)

तुझे कहाँ से जीवन प्राप्त होता है ? तेरे हरे-भरे, घने, सुन्दर पत्ते तथा हरे और शुभ्र, किन्तु मृदु पराग वाले, मोह लेने वाले फूल ऐसे गंधभरे हैं कि सहज ही मन को आकृष्ट कर लेते हैं और मोह लेते हैं। उनकी सुन्दरता उपकार करने वाली है। वर्षा तथा हेमंत द्वारा वृद्धिगत उनका तेज सचमुच अभिजात हैं। नूतन वायु के द्वारा दिये हुए रागों तथा आलापों को अपने भीतर रमा कर जिन फूलों ने वृद्धों और युवकों को प्रसन्नता प्रदान की, जिन्हें युवाओं ने आभूषण की भाँति अपने हृदयों पर स्थान दिया और जिन्हें प्रमदाओं ने अपने सिर की केशराशि में स्थापित किया उन्हें शिशिर ने धूल में मिला दिया ! तेरे फूलों के कारण जिनका हृदय परिवर्तन हुआ और जो अन्याय के कारण विद्रोही बने, उन्होंने सारे संसार को चेता कर उसमें ज्वाला धधकाई और वे स्वयं शहीद हुए, क्या उन्हीं शहीदों के शव तुम्हारी प्रत्येक टहनी पर लटक रहे हैं ? (३)

किसके लिए यह तेरी तपस्या चल रही है ? क्यों तूने इन प्रेतों को अपने हृदय से लगा रखा है ? तेरे चारों ओर जो अन्याय हो रहे हैं, जो सितम ढाये जा रहे हैं, जो भुखमरी का तांडव हो रहा है और कुमार्ग से संपत्ति लूटी जा रही है, उन्हीं के कारण वे दीन असहाय हो कर धरती पर लोट गए, जिनके शव तूने अपने हृदय से लगा रखे हैं। यह दृश्य देख कर तेरा हृदय तिलमिला उठा, जलभुन गया और तेरे समस्त (सुधार के) यत्न असफल हुए, क्या इसी से विरक्त होकर तूने संन्यास ग्रहण किया ? (४)

प्रतीकार की प्रेरणा असफल हुई, इसीसे कदाचित् तू फिर से ध्यान लगाये बैठा है। तूने पत्तों को त्यागा, फूलों को त्यागा, यहाँ तक कि तूने अपना जीवन भी त्यागा, परन्तु इन शहीदों के शवों को हृदय से लगा कर, भगीरथ की भाँति गंगा लाने के लिए, क्या तू पुराने तेज-संचय द्वारा ही निर्माण होने वाले नये तेज का संचय कर रहा है ? (५)

नया गरम हवा का एक झोंका आते ही ये प्रेत चमक-दमक कर, खिलखिला कर हँस पड़े। एक टहनी के भीतर से विह्वल स्वर निकला—"भीतर से मैं जीवन सोख रहा हूँ और कुंडलिनी अमृत प्रदान कर मुझे जिला रही है।" वही अमृत मैंने बीजों को दिया और वह उनके भीतर समा गया है। ये शव धूल में परिवर्तित हो कर धूल में ही समा जाएँगे और इस अमृत जीवन तथा सिंचन से नये अंकुर फूटेंगे। नये पत्ते चमक उठेंगे, उन पर नये मधुर फूल महँक उठेंगे और उसी जीवन से अंग अंग और रोम-रोम खिल उठेगा। हरे, शुभ्र तथा मृदु पराग वाले, मोह लेने वाले फूल शांति का जीवन प्रदान करने के लिए गंध-भरी दाहकता से अपनी शांत-आहुति के लिए उद्यत होंगे। यही जीवन है ! यही जीवन है। यही जीवन है !!!

—गोविन्द जागीरदार

पुस्तक-परिचय

★ मेरे बापू—लेखक, श्री तन्मय बुखारिया; प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; पृष्ठ—सं० ११०, सजिल्द, सचित्र, आकर्षक गेट-अप, मूल्य २॥)

कवि ने महात्मा गान्धी के जीवन से प्रभावित हो कर उसके कुछ चित्र अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किये हैं। पुस्तक की १७ रचनाओं में से १३ महात्मा जी के निधन पर हैं और शेष चार का विषय १५ अगस्त है। रचनाओं में ओज और प्रवाह है, परन्तु कई जगह शब्दों की तोड़-मरोड़ की गयी है, और संस्कृत-निष्ठ हिन्दी में उर्दू के शब्द समाविष्ट कर दिये गये हैं, जो बेतुके मालूम पड़ते हैं—'सरिता की सरल रवानी', 'बलिदानी', 'लेखनि', 'कामायनि', 'खामोश नूर तुम निःसम्भ्रम', 'पंखुरी,' 'साभ', 'नैस्तब्ध्य', 'नाराए पाकिस्तान', 'आष्टी-चिमूर', 'आगाखान महल', 'झिटका', 'अशुभम्'–इत्यादि।

छन्दों में भी यत्र-तत्र कुछ भूलें हैं— अदृश्य अशुभ की झाईं सी (१५ मात्रा १६ की जगह, पृ० ४२)। यद्यपि कालिख यह अमिट (१३ मात्रा १६ की जगह, पृ० ४६)। तुम सम्प्रति के अवगुंठन (१४ मात्रा १६ की जगह, पृ० ६८)।

कहीं-कहीं प्रूफ की अशुद्धियाँ भी हैं:–सयुगत् सत्युग के लिए (पृ० ४१)।

'गोडसे' कविता में "हे उच्च-संस्कृति के कुपूत, पुंलिंग बनी है घृणित बात। (पृ० ५१)" का भाव स्पष्ट नहीं है।

पृ० ८० पर 'माता की देह नहा डाली' अप्रचलित मुहावरा है, जिसका भाव भी स्पष्ट नहीं होता। पृ० १० पर 'इंगित' पुंलिंग है—'किन्तु न जाने किसका इंगित', परन्तु १०२ पृ० पर स्त्रीलिंग है—'उठ इंगित-भ्रुकुटि हमारी फिर'।

★ पंच प्रदीप—लेखिका, श्रीमती शान्ति, एम० ए०; प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; सजिल्द, आकर्षक गेट-अप; प्रसिद्ध विद्वानों की शुभ-सम्मतियों के साथ; पृ० सं० ६४, मूल्य २); आमुख-लेखक, श्रीसुमित्रानन्दन पन्त।

प्रस्तुत पुस्तक ७२ गीतों का संग्रह है। इन गीतों में जीवन की आशाएँ और आकांक्षाएँ विभिन्न रूपों में प्रकट की गयी हैं।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने आमुख में लिखा है– 'उनके काव्य का प्राणोच्छ्वसित पदार्थ अत्यन्त मार्मिक भावनाओं तथा सूक्ष्म संवेदनाओं का बना है।" श्री० रामकुमार वर्मा ने लिखा है–"गंभीर भावों की अभिव्यक्ति सरलतम चित्रों और अनुभूति की रेखाओं में स्पष्ट करने की अद्भुत क्षमता कवयित्री में है।" 'पंच-प्रदीप' की सभी रचनाएँ इन विशिष्ट विद्वानों के वक्तव्यों को प्रमाणित करती हुई प्रतीत नहीं होतीं। कई स्थलों पर भाव अटपटे हैं। भाषा शिथिल है।

'किसलय ने खोल पंखुड़ियाँ,
जी भर सौरभ बिखराई।' (पृ०२९)

किसलय का पंखुड़ी खोलना और सौरभ बिखराना अजीब है। किसलय फूल को नहीं कहते; नये पत्ते में पंखुड़ी नहीं होती। 'पंखुड़ियाँ' को 'पँखुड़ियाँ' पढ़ा जाए, तब छन्द शुद्ध रहेगा अन्यथा नहीं। 'सौरभ बिखराई' में 'सौरभ' स्त्रीलिंग है। बहुधा 'सौरभ' पुंलिंग में प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार

'मधु ऋतु भी शरमा जाता था', (पृ० २२)—ऋतु शब्द स्त्रीलिंग है। 'जय ने दिखा संग्राम को', (पृ० २३)—'दिखा' यहाँ 'देखा' के लिए प्रयुक्त है। 'आसक्ति जब समझा गया', (पृ० २८)—'आसक्ति' स्त्रीलिंग है।

'मुझ को कुछ कुछ कर डाला !
कुछ वेद-मन्त्र के घेरों ने,
भांवर के सातों फेरों ने।'

इस गीत से स्पष्ट नहीं होता कि विवाह अभिशाप है या वरदान। साधारणतया गीत भावपूर्ण हैं।

★ **पूर्णिमा**—लेखक, कवि प्रदीप; प्रकाशक, राधेश्याम द्विवेदी, प्रताप प्रेस, मथुरा; पृ०-सं० २४, मूल्य ॥)

प्रस्तुत पुस्तक कवि प्रदीप के १५ गीतों का संग्रह है। गीत स्पष्ट और भावपूर्ण हैं। पुस्तक का मुद्रण दोषपूर्ण है, तथा मूल्य अधिक।

★ **प्राचीन भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान**—लेखक, रघुवीरशरण दिवाकर; प्रकाशक, मानव साहित्य सदन, मुरादाबाद; पृ०-सं० ४०, मूल्य ॥।)

भारत के विधान में नारी को पुरुष के समान अधिकार प्राप्त हो चुके हैं, फिर भी लेखक ने कदाचित् नारी की सहानुभूति प्राप्त करने के निमित्त बार-बार दुहरायी गयी पंक्तियों को पुनः एकत्रित कर पुस्तक के रूप में प्रस्तुत किया है।

★ **प्राणों के स्वर**—लेखक, श्री० दामोदर; प्रकाशक, श्री० गोपालदास अग्रवाल, भावना-प्रकाशन-मन्दिर, मऊ कोठी, आर्यनगर, गोरखपुर; पृ०-सं० ६६, बड़ा आकार, सचित्र मुखपृष्ठ, मूल्य २॥)

तरुण कवि के ये ३५ गीत सचमुच सुन्दर हैं। बहुधा इनमें प्रकृति से सामंजस्य चित्रित है। इनमें छायावाद या रहस्यवाद की दुरूहता नहीं है—मानव हृदय की सच्ची अनुभूति ही विभिन्न रूपों में व्यक्त है। पहले गीत के कुछ मुहावरे उतने मधुर नहीं प्रतीत हुए—

"हवा चल रही फ़ुरफ़ुर"; "दूर कहीं पर मोरवा बोले, डोले मोरनी का मन"; "सुन-सुन क्यों सुगना का स्वर सुगनी का मन लहराये।"

'क़िसाना', 'क़िसानिन' आदि प्रयोग भी चिन्त्य हैं। पृ० ३ पर 'अंगारे' 'अँगारे' होना चाहिए, नहीं तो छन्द में जमता नहीं है। यही भूल पृ० ४५ पर है। इसी प्रकार पृ० ४० पर 'हँसों' की जगह 'हंसों' होना चाहिए।

★ **पशु और मानव**—लेखक, अल्डुअस हक्सले; प्रकाशक, रणजीत प्रिन्टर्स एन्ड पब्लिशर्स, चाँदनी चौक, देहली; पृ०-सं० ५४०, मूल्य ३॥); छपाई, गेट-अप साधारण।

प्रतुस्त पुस्तक Aldous Huxley की अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर है। अनुवादक हैं श्री मोहन लाल, एम० ए०। लेखक की कल्पना में निस्सन्देह नवीनता है पर अनुवाद में प्रवाह और मौलिकता की रक्षा नहीं हो पायी है। कहीं-कहीं मूल-संदेश उलझ-सा गया है। फिर भी अणुबम के प्रयोग द्वारा त्रस्त संसार का एक भयंकर चित्र लेखक हमारे सामने रखने में सफल अवश्य हुआ है। उपन्यास में लम्बे-लम्बे गीत कहीं-कहीं बहुत अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं।

★ **हिन्दी-निरुक्त**—लेखक, किशोरीदास वाजपेयी; प्रकाशक, जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता; छपाई आदि साधारण; पृष्ठ-सं० १२४, मूल्य २।) प्रस्तुत पुस्तक संस्कृत के प्रसिद्ध 'निरुक्त' का अनुवाद नहीं है, जैसा कि 'हिन्दी-निरुक्त' नाम से प्रतीत होता है: अपितु इसमें मुख्यतः 'निरुक्त' के सिद्धान्तों के आधार पर हिन्दी-शब्दों की व्युत्पति का विवेचन किया गया है। श्री वाजपेयी जी सस्कृत तथा हिन्दी

दोनों भाषाओं के व्याकरण और साहित्य के मार्मिक विद्वान् हैं और अनेक लेख तथा ग्रन्थ इन विषयों पर लिख चुके हैं। इस पुस्तक में उन्होंने भाषा-विज्ञान (शब्द-निरुक्ति) का विषय अपनाया है, और उसका प्रतिपादन शुद्ध शास्त्रीय (भारतीय) दृष्टि से, पश्चिमी भाषा विज्ञान का सहारा लिये बिना ही, किया है।

पुस्तक छः अध्यायों में विभक्त है:—विषय-प्रवेश, वर्णागम, वर्ण-विपर्यय, वर्ण-विकार, वर्ण-लोप और अर्थ-विकास आदि। प्रत्येक अध्याय में विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत अनेक नियमों, सूत्रों और सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है और साथ में प्रचुर उदाहरण भी दिये गये हैं। नियम अथवा सिद्धान्त के रूप में वाजपेयी जी ने जो कुछ कहा है वह अधिकांश में ग्राह्य और मान्य है, किन्तु उदाहरणों के रूप में जो व्युत्पत्तियाँ दी गयी हैं उनमें से अनेक चिन्त्य हैं। पृ० १ पर ही 'श्री' का सम्बन्ध अंग्रेजी 'सर' (sir) के साथ जोड़ा गया है, जो नितान्त असंभव है। sir का उद्गम sire से हुआ है और sire आया है (फ्रेंच के द्वारा) लैटिन senior से। इस 'सर' (sir) अथवा 'सरपंच' के 'सर' से जर्मन 'हर' का किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। पृ० ४ पर संस्कृत 'हर्म्य' में 'अ' का आगम करके अरबी 'हरम' बनाया गया है। वस्तुतः ये दोनों शब्द परस्पर असंबद्ध हैं। पृ० ५ पर कहा गया है कि 'सिंह' 'हिंस्' धातु से तथा 'नख' 'खन्' धातु से, वर्ण-विपर्यय के द्वारा, बने हैं—यह कोरी कल्पना है। 'सिंह' का सम्बन्ध 'सह्' धातु से है, और 'नख' पुराना इंडो-यूरोपियन शब्द है, जिसका सम्बन्ध अंग्रेजी के Nail, जर्मन Nagel आदि शब्दों से है। फ़ारसी 'आमद' को वाजपेयी जी ने संस्कृत 'आगम' से उद्भूत बताया है—वर्ण-व्यत्यय द्वारा 'आमग', फिर वर्ण-विकार द्वारा 'आमद' (पृ० २१)। किन्तु फारसी 'आमद' आया है पुरानी फारसी के 'आ + मत' से, और यह 'मत' विकसित हुआ है और भी प्राचीन 'ग्मत' से जो वस्तुतः 'गम्' धातु का निष्ठान्त रूप है।

स्थानाभाव से अधिक उदाहरण नहीं दिये जा सकते, किन्तु इस प्रकार की भ्रान्त व्युत्पत्तियाँ 'हिन्दी निरुक्त' में पर्याप्त संख्या में हैं। वर्णागम, वर्ण-विपर्यय, वर्ण-विकार और वर्ण-लोप के नियम सर्व-मान्य हैं, पर इनका विनियोग अंधाधुंध नहीं किया जा सकता। किसी शब्द की व्युत्पत्ति निश्चित करने के लिए उसके सभी प्राचीन रूपों को तथा अन्य सम्बद्ध भाषाओं के समानार्थक और समानाकृतिक शब्दों को भी देखना पड़ता है, प्रकृति-प्रत्यय-विभाजन और अर्थ आदि की संगति और उपयुक्तता का ध्यान रखना पड़ता है, अन्य अनेक बातों की सावधानी रखनी पड़ती है—केवल अटकल से काम नहीं चलता। यह कार्य अत्यन्त दुरूह है, भ्रम होते देर नहीं लगती। विस्तृत अध्ययन और गवेषणा के बिना, केवल अनुमान या कल्पना के आधार पर, व्युत्पत्तियों का विवेचन नहीं किया जा सकता। वस्तुतः वैज्ञानिक 'हिन्दी-निरुक्त' लिखने के लिए अपभ्रंश, प्राकृत और संस्कृत के अतिरिक्त भारत की समस्त आधुनिक भाषाओं का तथा इंडो-यूरोपियन भाषा-विज्ञान का भी अध्ययन अपेक्षित है। प्रस्तुत 'हिन्दी-निरुक्त' केवल यास्क के सिद्धान्तों के आधार पर लिखा गया है। ये सिद्धान्त निःसन्देह मान्य हैं। किन्तु भाषा-विज्ञान में इनके अतिरिक्त भी बहुत-कुछ है। उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

★ राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण—लेखक तथा प्रकाशक, उपर्युक्त; पृ०-सं० १६८, मूल्य ४)

यह व्याकरण विशेषतः अहिन्दीभाषियों के लिए लिखा गया है, यद्यपि हिन्दी-भाषी भी इससे बहुत-कुछ लाभ उठा सकते हैं, "क्योंकि इसमें हिन्दी-व्याकरण के मौलिक तथा आधारभूत सिद्धान्तों की उद्भावना हुई है।"

किन्तु इस 'प्रथम व्याकरण' से केवल ऐसे हिन्दीभाषी अथवा अहिन्दी-भाषी लाभ उठा सकते हैं, जिन्हें पहले ही से हिन्दी का अच्छा ज्ञान है, और साथ ही संस्कृत-व्याकरण का भी। अ-संस्कृतज्ञ पाठक 'तिङन्त', 'कृदन्त', 'तद्धित', 'प्रकृति', 'प्रत्यय' आदि पारिभाषिक शब्दों में ही उलझे रह जाएँगे। विषय का प्रतिपादन भी इस प्रकार किया गया है कि पुस्तक साधारण छात्रों की अपेक्षा अध्यापकों और विद्वानों के लिए ही अधिक उपयोगी जान पड़ती है। हिन्दी-व्याकरण की अनेक उलझनें सुलझायी अवश्य गयी हैं, किन्तु जो अहिन्दी-भाषी शुद्ध हिन्दी बोलना और लिखना सीखना चाहता है, वह, किसी विद्वान् की सहायता के बिना, इस पुस्तक को समझ भी नहीं सकेगा, सीखेगा क्या? हाँ, जो हिन्दी-भाषी अथवा अहिन्दी-भाषी हिन्दी व्याकरण से सामान्यतया परिचित हैं, किन्तु उसके 'क्यों' और 'कैसे' को समझना चाहते हैं, उनके लिए यह पुस्तक काम की है। 'क्यों' और 'कैसे' का उत्तर हिन्दी के किसी अन्य व्याकरण में इतनी स्पष्टता और सरलता से नहीं दिया गया। हिन्दी-व्याकरण की इस भारी कमी को दूर करने का वाजपेयी जी ने जो प्रयास किया है, वह सर्वथा स्तुत्य है—इस प्रयास में उन्हें सफलता भी मिली है।

सब मिला कर पुस्तक उपयोगी है, फिर भी इसमें अनेक त्रुटियाँ रह गयी हैं, जिनका यहाँ दिग्दर्शनमात्र किया जा सकता है।

पृ. २१-२२ पर 'राम को माँ ने दूध दिया' आदि वाक्यों में 'राम को' को सम्प्रदान माना गया है, 'दूध' को कर्म। किन्तु 'राम को' को भी (प्रधान) कर्म क्यों नहीं माना जा सकता? संस्कृत में दानार्थक धातुओं का प्रधान कर्म सम्प्रदान माना जाता है, उसमें चतुर्थी विभक्ति लगती है, इसी आधार पर हिन्दी में भी उसे सम्प्रदान मानना अनिवार्य नहीं है।

पृ. २२ पर कहा गया है, "नैसर्गिक वेग या उद्रेक प्रकट करना हो तो उसके अधिकरण में प्रायः 'को' का प्रयोग होता है।" जैसे, 'राम को भूख लगी है', 'तुमको क्रोध आ गया' इत्यादि। किन्तु 'राम को सन्तोष हुआ', लड़के को दुःख हुआ' आदि वाक्यों में न "नैसर्गिक वेग" है, न "उद्रेक"—यहाँ क्या करेंगे?

पृ. ३९ पर वाजपेयी जी ने 'घोड़ा', 'घड़ा' आदि के –'आ' को संस्कृत विसर्ग (प्रथमा एकवचन) से उद्भूत माना है। यह गलत है। –'आ' का पूर्वज संस्कृत का –'क' प्रत्यय है, विसर्ग नहीं। संस्कृत 'घोटक–', प्राकृत 'घोडअ–', हिन्दी 'घोड़ा', यों विकास हुआ है। संस्कृत विसर्ग तो प्राकृत में सर्वत्र –'ओ' बन जाता है– सं. पुत्रः, प्रा. पुत्तो; सं. बालः प्रा. बालो; सं. रामः, प्रा. रामो। यह–'ओ' बाद में अपभ्रंश में –'उ' के रूप में आ गया, और इसी रूप में हिन्दी की प्रचीन बोलियों में मिलता है–रामु घरु, लोगु इत्यादि। खड़ी बोली में यह–'उ' भी लुप्त हो गया–राम, घर, लोग। सो, विसर्ग से-'आ' का उद्भव नहीं हो सकता। यह भ्रान्ति वाजपेयी जी को इसीलिए हुई कि उन्होंने 'रामः' आदि के प्राकृत रूपों पर ध्यान नहीं दिया– हिन्दी का संबन्ध सीधे संस्कृत से जोड़ना चाहा।

पृ. ७३ पर 'क्रिया–विशेषण' के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए वाजपेयी जी कहते हैं–"–लोग 'जब-तब' 'इधर-उधर' और 'यहां वहां' आदि अव्ययमात्र को 'क्रिया-विशेषण' कहते हैं!" वाजपेयी जी 'जब', 'तब' आदि को 'अव्यय' मानते हैं, क्रिया–विशेषण नहीं। किन्तु 'जब', 'तब' आदि वस्तुतः अव्यय भी हैं, क्योंकि इनमें रूप-परिवर्तन नहीं होता; और क्रिया-विशेषण भी, क्योंकि ये क्रिया–गत विशेषता–क्रिया का समय, स्थान आदि–प्रकट करते हैं। वाजपेयी जी को इन्हें क्रिया–विशेषण मानने में क्या आपत्ति है, समझ में नहीं आया। यह ठीक है कि प्रत्येक अव्यय क्रिया-विशेषण नहीं होता–और न प्रत्येक क्रिया-विशेषण अव्यय होता है–, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि 'धीरे-धीरे', 'सुख से',

'अच्छा', 'कैसा' आदि ही क्रिया-गत विशेषता प्रकट करते हैं, 'जब', 'तब' आदि नहीं।

आगे वाजपेयी जी ने कहा है कि अंग्रेजी में सभी अव्ययों को ऐड्वर्ब (Adverb) माना जाता है। यह भी ठीक नहीं। अंग्रेजी में अन्य अनेक प्रकार के शब्द Preposition, Conjunction, Interjection आदि अव्यय-कोटि में आते हैं। 'अव्यय' के लिए अंग्रेजी शब्द Indeclinable है।

पृ. १५७ पर वाजपेयी जी ने भूतकाल का प्रत्यय 'य' माना है, और इसका उद्भव सीधे संस्कृत -'त' से बताया है, क्योंकि "भाषा में 'त' को 'य' होता ही रहता है। दोनों का स्थान एक ही है" !! 'त' और 'य' का स्थान एक ही है! 'दन्त' और 'तालु' में कोई भेद नहीं! ठीक है, दोनों मुंह में ही हैं न! 'स्थान' एक!

नहीं, वाजपेयी जी, भूतकाल का प्रत्यय 'य' नहीं है, 'अ' (-'आ') है। 'त के स्थान पर कभी 'य' नहीं हो सकता। प्राकृत में सामान्यतः स्वर-मध्यवर्ती 'त्' का लोप हो जाता है- अथवा उसके स्थान पर 'द्' हो जाता है। सं. गत. प्रा. गअ, गद; सं गृहीत, प्रा. गहिअ, गहिद; सं. जित, प्रा. जिअ, जिद, इत्यादि। प्राकृत का यही - 'अ' इकारान्त, ईकारान्त धातुओं में. उच्चारण-सौकर्य के लिए, कालान्तर में-'य बन गया-'कृत' से 'किअ' और 'किअ' से 'किय'; 'दित' (दत्त) से 'दिअ' और 'दिअ' से 'दिय'। इन रूपों के आधार पर अन्य धातुओं में भी -'य' का प्रयोग होने लगा- 'किया', 'दिया' 'पिया' के साम्य पर 'गया', 'सोया', 'रोया' आदि भी बन गये। 'पढ', 'लिख', 'सुन', 'चल' आदि (वस्तुतः हलन्त) धातुओं में -'अ' ही रहा-'पढ़ा', 'लिखा', 'सुना', 'चला'। यह है भूतकालिक 'य' का इतिहास। 'पढ्यो', 'सुन्यो' अथवा 'पढ्या', 'सुन्या' आदि उपभाषाओं के रूप हैं, जो संभवतः पठितः- पढियो-पढ्यो, यों विकसित हुए हैं।

उपर्युक्त ढंग के कुछ दोषों के रहते हुए भी पुस्तक उपादेय है, हिन्दी के अनेक 'विद्वान्' भी इससे बहुत-कुछ सीख सकते हैं। मूल्य ४) कुछ अधिक जान पड़ता है।

✯ अच्छी हिन्दी का नमूना:- लेखक तथा प्रकाशक, उपर्युक्त ही; पृष्ठ-सं० ११६. मूल्य २॥)।

प्रस्तुत पुस्तक श्री रामचन्द्र वर्मा की सुप्रसिद्ध "अच्छी हिन्दी" की विस्तृत समालोचना है। वाजपेयी जी ने "अच्छी हिन्दी" के अनेक अंशों की हिन्दी की त्रुटियाँ भी निकाली हैं, और साथ ही वर्मा जी के सिद्धान्तों और सूत्रों का खण्डन भी किया है, जो सर्वत्र तर्क-सङ्गत, प्रमाण-पुष्ट और विशद है। वाजपेयी जी की भाषा में प्रवाह और आकर्षकता के साथ-साथ व्यंग्य की तीव्रता और कटुता भी है। पर उन्होंने जो कुछ कहा है वह अकाट्य है। (वर्मा जी 'अकाट्य' शब्द को अशुद्ध मानते हैं!) कटुता की बात छोड़ दें तो पुस्तक सब प्रकार से उपादेय है—पाठकों की अनेक भ्रान्तियों का निराकरण कर सकती है।

✯ दृष्टिकोण — लेखक, विनयमोहन शर्मा; प्रकाशक नन्दकिशोर एंड ब्रदर्स, बनारस; छपाई-सफाई अच्छी; पृष्ठ-सं० २०२, मूल्य ४)

यह लेखक के साहित्य-समीक्षात्मक ३२ लघु-निबन्धों का संग्रह है, जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से कुछ सामान्य-साहित्य-विषयक हैं ('साहित्य की पृष्ठ-भूमि, 'रस-निष्पत्ति'), कुछ साहित्य के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालते हैं ('कहानी-कला का विकास' 'हिन्दी नाटकों का विकास') कुछ में विभिन्न 'वादों' की विवेचना है ('जडवाद या वास्तववाद', 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद', 'साहित्य में प्रगतिवाद'), और कुछ में विभिन्न कवियों की अथवा उनकी कृतियों की आलोचना है ("'गीतिका' का कवि," 'श्री निराला की 'अप्सरा', 'गीतिकाव्य और गुप्त जी', 'लहर' की समीक्षा' इत्यादि)। सभी निबन्ध पठनीय हैं। इनसे

लेखक की विचारशीलता, अध्ययन और विवेचन-शक्ति का परिचय मिलता है। विषय विभिन्न होते हुए भी एक प्रकार की एकसूत्रता इनमें स्पष्ट लक्षित होती है। लेखक के सभी विचारों से पाठक भले ही सहमत न हो, इतना मानना ही पड़ेगा कि निबन्ध ऊंचे स्तर के हैं और विमर्शपूर्वक लिखे गये हैं।

छापे की अशुद्धियाँ बहुत अधिक हैं—खटकती हैं।

★ साहित्यायन – लेखक, हंसकुमार तिवारी; प्रकाशक, मानसरोवर प्रकाशन, गया; छपाई-सफ़ाई सुन्दर, पृष्ठ-सं १६०, मूल्य २॥)

श्री० हंसकुमार तिवारी बिहार के सुपरिचित कवि और लेखक हैं। प्रस्तुत पुस्तक उनके १२ साहित्यिक निबन्धों का संग्रह है। सभी निबन्ध सामान्य-साहित्य-विषयक हैं, काफ़ी अध्ययन और विमर्श के बाद लिखे गये हैं और विचारोत्तेजक हैं। बीच-बीच में संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के प्रचुर उद्धरण दिये गये हैं। मूल अंग्रेजी उद्धरण देवनागरी लिपि में रखे गये हैं। ऐसा करने में कोई हानि नहीं है, किन्तु अंग्रेजी शब्दों का ठीक उच्चारण नागरी लिपि में देने में अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं, पढ़ने वाले को भी यह एक झमेला सा लगता है। और फिर इस पुस्तक के अंग्रेजी उद्धरणों में तो बहुत सी त्रुटियाँ भी आ गयी हैं – of कई जगह 'आव्' छपा है, 'ancient को 'एंशियेंट' लिखा गया है, 'impression' को 'इम्प्रेसन', upon को 'अपौन', presence को 'प्रेन्जेंस'। उद्धरणों को सीधी-सादी रोमन लिपि में ही रखा जाता तो ये गड़बड़ें नहीं होतीं, पढ़ने वालों को भी अधिक सुविधा रहती।

★ नया साहित्य (मासिक पत्र) : जनवरी १९५१ (वर्ष दो, अंक ८)

संपादक-मंडल; रामविलास शर्मा तथा प्रकाशचन्द्र गुप्त; प्रकाशक, प्रकाश-गृह; नया कटरा, इलाहाबाद २; मूल्य, वार्षिक १०), एक अंक १)

इस अंक में श्री रामकुमार का "दूसरा विश्व-शांति सम्मेलन" लेख नीरस है।

ओंकारनाथ कचरू का "काश्मीर का जन-कवि. नादिम' सुपाठ्य है। लेख के साथ नादिम की रचनाओं के सुन्दर उदाहरण भी दिये गये हैं। इसी प्रकार के लेख और दिये जाएँ तो अच्छा है। प्रादेशिक भाषाओं के सुन्दर साहित्य का हिन्दी में रूपान्तर अथवा अनुवाद आवश्यक है। विश्वनाथ नरवाने का "साहित्य और सामाजिक संघर्ष" लेख भी अच्छा है।

कविताएँ केदार, मानसिंह राही, कुमार गंधर्व, शंकर शैलेन्द्र और गजानन की हैं, परन्तु कोई भी उत्कृष्ट कोटि की नहीं है। इनमें प्रचार ही प्रचार है। साहित्य प्रचार का साधन है अवश्य (जैसे कृष्ण-चंद्र की कहानियों में), किन्तु वास्तव में महत्त्व कला का है।

कहानियाँ यशपाल, गुरुबचनसिंह और इसमत चगताई की हैं। एक चीनी कहानी भी है। इस अंक की सभी कहानियाँ पठनीय हैं। यशपाल की कहानी में सामाजिक परिस्थिति पर अच्छा व्यंग्य है।

चन्द्रबलीसिंह का पत्र "धर्म-युद्ध" अच्छा है। इस प्रकार की चर्चा होनी चाहिए बर्नार्ड शा पर प्रकाशचन्द्र की टिप्पणी पुरानी सी चीज़ है। कुमार की नेपाल पर टिप्पणी भी कुछ ऐसी ही है।

आलोचना स्तंभ के अंतर्गत "हरी घास पर कुछ क्षण" और अंग्रेजी पुस्तक "सिन ऐंड साइन्स" की आलोचना है। अंग्रेजी की पुस्तकों की अपेक्षा हिन्दी की पुस्तकों की समीक्षा को अधिक स्थान दिया जाना चाहिए।

★ प्रतीक (मासिक पत्र)– संपादक, स. ही. वात्स्यायन; सलाहकार. सियारामशरण गुप्त,

नगेन्द्र और श्रीपतराय; १४-डी, फीरोजशाह रोड, नयी दिल्ली से प्रकाशित; मूल्य एक अंक—१२ आना

'प्रतीक' जब बन्द हो गया था तब कई लोगों को बड़ा दुःख हुआ था, क्योंकि वह एक सुन्दर चीज़ थी, और निराली थी। नये रूप रंग में और मासिक बन कर 'प्रतीक' के पुनः प्रकाशन का स्वागत है।

संपादकीय में 'प्रतीक' को द्वैमासिक से मासिक बनाने के विषय में लिखा है — "यह मिलावट वाली ही बात ले लीजिए "......" स्वप्न के श्रेष्ठ धातु में मिलावट कुछ अधिक तो होगी ही—जो सिक्का जितना अधिक घिसा जाने वाला हो उस में उतना अधिक खोट होता है" ......और आगे, "लेकिन इतना हम कहेंगे कि एक मौलिक तत्त्व पर हमारा आग्रह अब भी उतना ही कट्टर है जितना पहले कभी रहा—और वह यह कि 'प्रतीक' किसी दल का पत्र नहीं है"......यह बात प्रसन्नता की है।

संपादकीय के बाद "उपन्यासों के स्वर" हैं, जिसमें भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क और यशपाल का वार्तालाप है। इसके बाद 'अज्ञेय' का "साँप"—कहानी है. काव्य है, उपन्यास है, निबन्ध है—क्या है,पता नहीं। यही कि "मौके की बात है, कुछ कर भी न सके" अज्ञेय।

कविताएँ मैथिलीशरण गुप्त और राजेन्द्र यादव की हैं। यादव की कविता 'मैं अकेला' अच्छी बन पड़ी है। सत्येन्द्र शरत् का रूपक "करेंसी नोट" अच्छा है। पर कहीं-कहीं कल्पना से अधिक काम लिया गया है, जिसके कारण व्यंग्य अस्वाभाविक हो गया है।

धर्मवीर भारती का निबंध "आधुनिक विश्व उपन्यास नायकों में पुंसत्वहीनता" पठनीय है। नवीन का "ओ हिरनी की आँखों वाली" गीत भी अच्छा है।

भवानीप्रसाद मिश्र का 'गीत-फरोश' सब प्रकार के गीत लिखता है। 'जी'-'जी' बहुत है। इसे हटा भी दिया जाए तो कविता में कुछ रुकावट नहीं होती, अपितु सौन्दर्य बढ़ ही जाता है।

हरदयाल सिंह का "विस्फोट" जबरदस्त है। हमें आशा है, हरदयाल सिंह इसी प्रकार के और प्रयोग करेंगे।

शान्ता राव का "भारत नाट्य" लेख पठनीय है। चित्रपट स्तंभ अन्य पत्र-पत्रिकाओं की अपेक्षा परिष्कृत और निष्पक्ष है, जो सराहनीय है।

साहित्य समीक्षा का स्तंभ उतना अच्छा नहीं है, क्योंकि समीक्षाएँ पूर्ण नहीं हैं, विशेषतः मुल्कराज आनन्द के 'अछूत' की। इसका केवल कथानक दिया गया है और कुछ नहीं। इस स्तंभ पर विशेष ध्यान दिया जाए तो उचित होगा।

वामन चोरघड़े की मराठी कहानी 'सखी' का रूपान्तर प्रभाकर माचवे ने किया है। इससे पता चलता है कि हिन्दी की कहानियाँ कहाँ पर हैं।

अन्त में अज्ञेय की "चाँदनी जी लो" सुन्दर कविता है,

. . . .

बरसी—
शरद चाँदनी
मेरा ?
अन्त : स्पन्दन
तुम भी क्षण-क्षण जी लो !

'प्रतीक' की छपाई-सफाई बहुत सुन्दर है। कहीं-कहीं प्रेस के भूलों के दर्शन हो जाते हैं।

'प्रतीक' हिन्दी में सम्पादन-कला का एक विशेष स्तर स्थापित करता है, और वास्तव में साहित्य और कला का प्रतिनिधि मासिक है। ऐसे पत्र हिन्दी का गौरव हैं।

प्रकाशक—मधुसूदन चतुर्वेदी एम. ए., मुद्रक:- कमार्शियल प्रिंटिंग प्रेस. हैदराबाद दक्षिण.